आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के वाङ्मय से चयनित

कुन्दकुन्द का कुन्दन

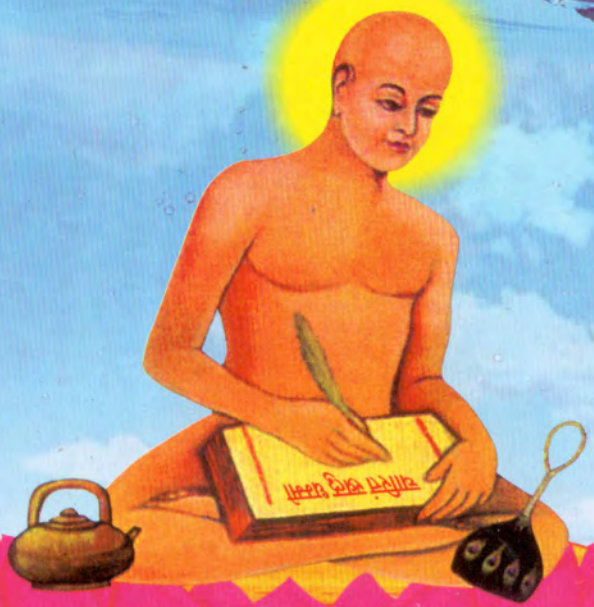

प्राकृत वाङ्मय के यशस्वी पुरोधा
श्रमण संस्कृति के उन्नायक
आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी

कुन्दकुन्द का कुन्दन

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के वाङ्मय
में से 134 गाथाओं का अनूठा
सारगर्भित संग्रह

(आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज कृत पद्यानुवाद सहित)

प्रकाशन
आचार्य ज्ञानसागर ग्रन्थमाला
श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान
वीरोदय नगर, नशियाँ रोड, सांगानेर, 303902 जयपुर (राज.)

आचार्य ज्ञानसागर ग्रन्थमाला
(पुष्प-3)

आशीर्वाद : परम पूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज

प्रेरणा : पूज्य मुनिपुंगव श्री सुधासागर जी महाराज

ग्रन्थमाला सम्पादक :
डॉ. शीतलचन्द जैन, पं. रतन लाल बैनाड़ा, ब्र. भरत जैन

कृति : कुन्दकुन्द का कुन्दन

अर्थ सौजन्य : श्रीमती पुष्पा बेन गुलाब चन्द शाह, मुंबई

प्रथम तीन संस्करण : 6400
चतुर्थ संस्करण : 1000, मार्च 2010

लागत मूल्य : 25 रुपये मूल्य विक्रय मूल्य : 20

प्राप्ति का स्थान
आचार्य ज्ञानसागर ग्रन्थमाला
श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान
वीरोदय नगर, जैन नशियाँ रोड,
सांगानेर, जयपुर- 302029
फोन : 0141-2730552

मुद्रक :
श्री राधे एन्टरप्राईजेज
एफ-23 (सी-5), मालवीय औद्योगिक क्षेत्र, जयपुर
फोन : 0141-2751522, 4015220

प्रास्ताविकी (द्वितीय संस्करण से)

इस युग के आदि तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव हुए और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर। उन्होंने अपनी दिव्यध्वनि के माध्यम से भव्य जीवों को संसार-समुद्र से पार/उत्तीर्ण होने का अपूर्व उपदेश दिया है, जिसे गणधर परमेष्ठी ने श्रुत का रूप दिया। उनके पश्चात् द्वादशाङ्ग श्रुत-परम्परा के धारक अनेकानेक आचार्य हुये जिन्होंने अनिबद्ध श्रुत परम्परा के माध्यम से जैन धर्म /दर्शन के सिद्धान्तों को व्याख्यायित किया।

जैसे-जैसे समय बीता, इस श्रुत-परम्परा का क्रमशः ह्रास होता गया और आज से लगभग 2000 वर्ष पूर्व यह श्रुत-परम्परा विच्छिन्न होकर श्रुतांश के रूप में ही रह गई। लगभग उसी समय आचार्य कुन्दकुन्द हुए, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वप्रथम अध्यात्म एवं दिगम्बर श्रमण परमपरा के मौलिक स्वरूप को उद्घाटित किया। कहा जाता है कि उन्होंने 84 पाहुड़ों का सृजन किया। अद्यावधि उपलब्ध ग्रन्थों में समयसार श्रमण-परम्परागत अध्यात्म का एक अप्रतिम मौलिक ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने अध्यात्म को हिमालय की चोटियों तक पहुँचाया और इस तरह वे श्रमण परम्परा में अध्यात्म के आद्य उपस्कर्ता के रूप में पुरुस्कृत हुए। तत्त्वतः, इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द का अध्यात्म, आत्मा से ही उत्पन्न होकर आत्मा में ही विलीन हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार अध्यात्म साधना के हार्द को खोलने वाला शिरोमणि ग्रन्थ है, लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द केवल समयसार में प्रतिबिम्ब नहीं है, वे प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़,बारसाणुबेक्खा, आदि ग्रन्थों मेंभी रूपायित हैं, जिनमें उन्होंने अध्यात्म की आधारभूत साधना के विविध आयामों को सहज, सरल, प्रांजल एवं स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है, जिस पर अध्यात्म का भव्य महल खड़ा हुआ है।

आचार्य जयसेन, आचार्य कुन्दकुन्द के ऐसे समर्थ टीकाकार हुए हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम अपनी टीकाओं में आचार्य कुन्दकुन्द के नाम का श्रद्धा भक्ति पूर्वक स्मरण उल्लेख किया है, और आगम सिद्धान्त के आलोक में उनके ग्रन्थों में के भावों की कली-कली को खोल दिया है। उन्होंने अपने टीका ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उल्लिखित ज्ञानी अज्ञानी, स्वसमय-

परसमय, कर्मचेतना-ज्ञानचेतना, शुभोपयोग-शुद्धोपयोग,भेदरत्नत्रय-अभेदरत्नत्रय, निर्विकल्प समाधि आदि शब्दों के अर्थों को एवं गुणस्थान परक विवेचन से उनके स्वामियों को स्पष्ट किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में जहाँ अध्यात्म दर्शन को जीवंतता दी है, वहीं पर उन्होंने पग-पग पर श्रमणों एवं श्रावकों को अध्यात्म साधना की पगडंडियों के विरुद्ध सटीक चेतावनियाँ भी दी हैं, जिससे वे अप्रमत्त होकर साधना की गहराइयों/ ऊँचाइयों को छू सके और कर्मरज को आत्मा से पूर्णतः विलग कर परमात्म पद को प्राप्त कर सके।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वि-सहस्राब्दी महोत्सव के पावन सन्दर्भ में मनोभावना थी कि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से कुछ गाथाओं का चयन किया जाये, जो आध्यात्मिक दिशा-दर्शन एवं चिन्तन के साथ-साथ उनके कुशल प्रशासक/ पथ प्रदर्शक एवं अनेकान्त के प्रखर विवेचक /समर्पक रूप का भी प्रतिनिधित्व कर सकें। इन्हीं भावों को दृष्टिगत् रखते हुए प्रस्तुत संकलन की गाथाओं का चयन किया गया था।

संकलित गाथाओं का चयन परमपूज्य आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागर जी महाराज के दिशा दर्शन में किया गया था। वस्तुतः आचार्य श्री का जीवन ही ऐसा है कि उनकी चर्या एवं साधना में आचार्य कुन्दकुन्द की मूक गाथायें भी बोलने लगती हैं। उन्हीं का सरस सामीप्य एवं संघस्थ साधुजनों के प्रेरणा ही इस संकलन के रूप में प्रकट हुई थी। एतदर्थ, उनके श्री चरणों में शतशः सादर नमोस्तु निवेदित करता हूँ।

इस लघु कृति का प्रथम संस्करण आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान पिसनहारी की मढ़िया जबलपुर से सन् 1988 में प्रकाशित हुआ था एवं द्वितीय संस्करण श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान के आचार्य ज्ञानसागर ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो रहा है। जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में संलग्न ग्रन्थमाला के सम्पादक गणों को धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने कुन्दकुन्द का कुन्दन कृति में पद्यानुवाद, अन्वयार्थ, भावार्थ जोड़कर कृति सरल, सहज बना दिया।

आचार्य श्री चरणों में सादर नमोस्तु
करते हुए उनके आशीर्वाद एवं सामीप्य का प्रार्थी
डॉ. जिनेन्द्र कुमार

प्रकाशकीय

संत शिरोमणि परम पूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज के पावन आशीर्वाद एवं आध्यात्मिक संत मुनिपुंगव श्री 108 सुधासागर जी महाराज की प्रेरणा से सन् 1996 में संस्थापित श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर का मूल उद्देश्य आर्षमार्गी विद्वानों को तैयार करने के साथ आर्ष परम्परा के आगम ग्रंथों को प्रकाशित कर जन-जन के हाथों में पहुँचाना है। तदनुरूप आचार्य ज्ञानसागर ग्रन्थमाला प्रारम्भ की गयी है। इस क्रम में भक्ति मंजूषा, संस्कार सुबोध, मानव धर्म, जैनधर्म की मौलिक विशेषताएँ, कुन्दकुन्द का कुन्दन पाँच कृतियों का प्रकाशन हो चुका है ।

प्रस्तुत कुन्दकुन्द का कुन्दन तृतीय संस्करण पाठकों के हाथों पर देते हुये हर्ष हो रहा कि स्वाध्याय प्रेमियों नें पिछले संस्करण को सराहा एवं मांग भी रही है। इस संस्करण में आचार्य विद्यासागर जी महाराज के मुखारविन्द से प्रस्फुटित अमृत बिन्दुओं को पृष्ठ के नीचे रिक्त स्थान में देकर स्थानपूर्ति की गयी है।

वर्तमान में जैन साहित्य के प्रकाशन का कार्य बहुत सी प्रकाशन संस्थाओं से बड़ी तेजी से चल रहा है, जो काफी मंहगें दामों पर बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। इस कठिनाई को दृष्टिगत रखते हुये परम पूज्य मुनिपुंगव श्री सुधासागर जी महाराज का सस्ते साहित्य प्रकाशन के लिये आशीर्वाद एवं बहुमूल्य सुझाव तथा क्षुल्लक द्वय श्री १०५ गम्भीर सागर जी महाराज, श्री १०५ धैर्यसागर जी महाराज और ब्रह्मचारी संजय भैया द्वारा बहुमूल्य ग्रन्थों के प्रकाशन की प्रेरणा प्राप्त हुई। जिसकी पूर्ति के लिये सुनाम धन्य रत्नव्यवसायी श्री विवेक जी काला ने श्री विद्याविनोद काला

मेमोरियल ट्रस्ट, जयपुर से ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ सहयोग प्रदान किया। आपकी इस उदारता के लिये हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं, एवं समाज में दानी महानुभावों से आशा करते हैं कि वे भी इस कार्य में हमें सहयोग प्रदान करें ताकि विराटकाय ग्रन्थों के प्रकाशन करने का हम साहस बटोर सकें। हमारी भावना है कि प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को अल्प मूल्य पर ग्रन्थ उपलब्ध कराये जायें, ताकि वे श्रम साध्य ग्रन्थ रत्नों का रसास्वादन कर अपनी आत्मा को अभिसिंचित करे।

ग्रन्थों को लिखना तो आचार्यों, मुनियों, विद्वानों का कार्य है और प्रकाशन का कार्य ग्रन्थमाला का है तथा प्रचार-प्रसार का कार्य पाठकों का है। हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि पाठक वर्ग साहित्य प्रचार-प्रसार कार्य में अपेक्षित सहयोग दें। जिससे हम अधिक से अधिक श्रेष्ठ आगम ग्रन्थों के साथ शोध पूर्ण कृतियों का भी प्रकाशन कर सकें। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि सभी का हार्दिक सहयोग ग्रन्थमाला को प्राप्त होता रहेगा।

इस ग्रन्थ को नवीन स्वरूप प्रदान करने में ग्रन्थमाला के सम्पादक द्वय श्री डॉ. शीतलचंद जी जैन, श्री पं. रतन लाल जी बैनाड़ा ने अपना अमूल्य समय देकर मार्गदर्शन प्रदान किया है, साथ में संस्थान के पदाधिकारीगण एवं उपअधिष्ठाता श्री राजमलजी बेगस्या का भी सहयोग प्राप्त हुआ। उक्त सभी महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज एवं मुनि पुंगव श्री १०८ सुधासागर जी महाराज के चरणों में कृतज्ञता ज्ञापित करते हुये शत-शत नमन कोटि-कोटि वंदन निवेदित करता हूँ।

ब्र. भरत जैन

अनुक्रमणिका

विषयानुक्रम	गाथानुक्रम	गाथांक	पृ. क्र.
प्रथम रत्नत्रय अधिकार			
▸ मंगलाचरण	अट्ठविहकम्ममुक्के	१	१
▸ मोक्षमार्ग और उसका फल	मग्गो मग्गफलं ति	२	२
▸ व्यवहार मोक्षमार्ग	जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं	३	३
▸ निश्चय मोक्षमार्ग	दंसणणाणचरित्ताणि	४	४
▸ व्यवहार सम्यग्दर्शन	हिंसारहिए धम्मे	५	५
▸ अठारह दोष	छुहतण्हभीरुरोसो रागो	६	६
▸ सम्यग्दर्शन के हेतु	सम्मत्तस्स णिमित्तं	७	७
▸ निश्चय सम्यग्दर्शन	भूदत्थेणाभिगदा	८	८
▸ निःशंकित अंग	जो चत्तारि वि पाए	९	९
▸ निःकांक्षित अंग	जो ण करेदि दु कंखं	१०	१०
▸ निर्विचिकित्सा अंग	जो ण करेदि दुगुंच्छं	११	११
▸ अमूढदृष्टि अंग	जो हवदि असम्मूढो चेदा	१२	१२
▸ उपगूहन अंग	जो सिद्धभत्ति जुत्तो	१३	१३
▸ स्थितिकरण अंग	उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे	१४	१४
▸ वात्सल्य अंग	जो कुणदि वच्छलत्तं	१५	१५
▸ प्रभावना अंग	विज्जारहमारूढो	१६	१६
▸ सम्यग्ज्ञान	अरहंतभासियत्थं	१७	१७
▸ ज्ञान का अर्थ	अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं	१८	१८
▸ जिनवचन महिमा	जिणवयणमोसहमिणं	१९	१९
▸ निश्चय चारित्र	चारित्तं खलु धम्मो धम्मो	२०	२०

▸ मोह के लिंग / चिह्न	अट्ठे अजधागहणं	२१	२१
▸ व्यवहार चारित्र	जिणणाणदिट्ठिसुद्धं	२२	२२
▸ सम्यक्त्वाचरण चारित्र	एवं चिय णाऊण	२३	२३
'' ''	णिस्संकिय णिक्कंखिय	२४	
'' ''	तं चेव गुणविसुद्धं	२५	
▸ संयमाचरण चारित्र	दुविहं संजमचरणं	२६	२५
▸ श्रावकों का संयमाचरणचारित्र	दंसण वय सामाइय पोसह	२७	२६
▸ श्रावक के बारह व्रत	पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं	२८	२७
▸ मुनियों का संयमाचरण चारित्र	पंचिंदियसंवरणं पंचवया	२९	२८

द्वितीय उपयोग अधिकार

▸ द्रव्यगुणपर्याय विवेचन	पज्जयविजुदं दव्वं	३०	२९
▸ द्रव्य एवं गुण की अनन्यता	दव्वेण विणा ण गुणा	३१	३०
▸ आत्मा और धर्म	परिणमदि जेण दव्वं	३२	३१
▸ शुभोपयोग /शुद्धोपयोग रूप धर्म का फल	धम्मेण परिणदप्पा अप्पा	३३	३२
▸ श्रमण के प्रकार व उनकी चर्या	समणा सुद्धुवजुत्ता	३४	३३
▸ शुद्धोपयोग परिणत आत्मा का स्वरूप	सुविदिदपयत्थसुत्तो	३५	३४
▸ श्रमण की चर्या	समसत्तुबंधुवग्गो	३६	३५
▸ शुभोपयोग का स्वरूप	जो जाणादि जिणिंदे	३७	३६
▸ शुभोपयोगी श्रावक की चर्या	अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती	३८	३८
▸ शुभोपयोगी श्रमण की चर्या	दंसणणाणुवदेसो	३९	३९
▸ शुभोपयोगी श्रावक/श्रमण चर्या का फल	एसा पसत्थभूदा	४०	४०
▸ अशुभोपयोग स्वरूप कथन	विसयकसाओगाढो	४१	४१
▸ त्रिविध उपयोग का फल	असुहेण णिरयतिरिय	४२	४२
▸ उपयोग की प्राप्ति का क्रम	सुहजोगस्स पवित्ती	४३	४३

तृतीय ज्ञान ज्ञेय अधिकार

▸ आत्मा की सर्वव्यापकता	आदा णाणपमाणं णाणं	४४	४४
▸ श्रुतज्ञान की सार्थकता	जो हि सुदेण विजाणदि	४५	४५
▸ आत्मज्ञता	अप्पसरु वं पेच्छदि	४६	४६
▸ सर्वज्ञता	लोयालोयं जाणइ	४७	४७
▸ आत्मज्ञता तथा सर्वज्ञता	जाणदि पस्सदि सव्वं	४८	४८
▸ भूतार्थअभूतार्थ नय कथन	ववहारोऽभूदत्थो	४९	४९
▸ द्विविधनयके उपदेशके पात्र	सुद्धो सुद्धादेसो	५०	५०
▸ शुद्धनय का स्वरूप	जो पस्सदि अप्पाणं	५१	५१
▸ नय पक्ष ग्रहण का निषेध	दोण्हवि णयाण भणियं	५२	५२
▸ स्वसमय-परसमय का लक्षण	जीवो चरित्तदंसणणाणे	५३	५३
▸ बहिरात्मा एवं अन्तरात्मा का लक्षण	अंतरबाहिर जप्पे	५४	५४
▸ त्रिविधचेतनाओं के स्वामी	सव्वे खलु कम्मफलं	५५	५५
▸ अज्ञानी का लक्षण	कम्मे णोकम्महि य	५६	५६
▸ ज्ञानी-अज्ञानी की पहचान	जह कणयमग्गितवियं	५७	५७

ज्ञानी-अज्ञानी की पहचान	एवं जाणदि णाणी	५८	५८
▸ संवर का स्वामी ज्ञानी ?	अप्पाणमप्पणा	५९	५९
संवर का स्वामी ज्ञानी ?	जो सव्वसंगमुक्को	६०	
संवर का स्वामी ज्ञानी ?	अप्पाणं झायंतो दंसण	६१	
▸ वीतराग सम्यग्दृष्टि और निर्जरा	उवभोज्जमिंदियेहिं	६२	६१
▸ रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता	परमाणुमित्तियं पि	६३	६२
रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता	अप्पाणमयाणंतो	६४	
▸ ज्ञानी निराकांक्ष होता है	जो वेददि वेदिज्जदि	६५	६३
▸ ज्ञानी निराकांक्ष होता है	उप्पण्णोदयभोगे	६६	६४
▸ पूर्ण निर्जरा के साधन	णागफणीए मूलं	६७	६५
'' ''	कम्मं हवेइ किट्टं रागादी	६८	
'' ''	झाणं हवेइ अग्गी	६९	
▸ मुनि के नामान्तर	परमट्ठो खलु समओ	७०	६७
▸ अध्यवसान के नामान्तर	बुद्धी ववसाओवि य	७१	६८
▸ अभव्य के धर्मसेवन का हेतु	सद्दहदि य पत्तेदि	७२	६९
▸ पढ़ने मात्र से कार्य नहीं	मोक्खं असद्दहंतो	७३	७०
▸ अकालमरण के हेतु	विसवेयणरत्तक्खय	७४	७१
'' ''	हिमजलणसलिल	७५	
'' ''	इय तिरियमणुयजम्मे	७६	
▸ ध्यान का फल तथा स्वामी	दंसणणाणसमग्गं झाणं	७७	७३
▸ वर्तमान में प्रत्यक्ष आत्मा का ध्यान सम्भव नहीं	कोविदिदच्छो साहू	७८	७४
▸ शुद्ध आत्मा का स्वरूप	अरसमरूवमगंधं	७९	७५
▸ आत्माज्ञाता ही जिनशासन का ज्ञाता	जो पस्सदि अप्पाणं	८०	७६
▸ आत्मार्थी की भावना	अहमिक्को खलु सुद्धो	८१	७७
▸ राग ही बंध का हेतु	रत्तो बंधदि कम्मं	८२	७८
▸ ध्यान का विषय	झायहि पंच वि गुरवे	८३	७९
▸ वचनमय द्रव्य प्रतिक्रमणादि ही मुनि का स्वाध्याय	वयणमयं पडिकमणं	८४	८०
▸ ध्यानमय निश्चय प्रतिक्रमणादि	पडिकमणं पडिसरणं	८५	८१
'' ''	अप्पडिकमणं	८६	
▸ ध्यान ही उत्कृष्टप्रतिक्रमण	झाणणिलीणो साहू	८७	८३
▸ वर्तमान काल में ध्यान तथा उसका माहात्म्य	भरहे दुस्समकाले	८८	८४
'' ''	अज्जवि तिरयणसुद्धा	८९	
▸ ध्यान का माहात्म्य	सग्गं तवेण सव्वो वि	९०	८६
▸ कर्मबन्ध और सांख्यदर्शन	जीवे ण सयं बद्धं ण सयं	९१	८७
कर्मबन्ध और सांख्यदर्शन	कम्मइयवग्गणासु य	९२	
कर्मबन्ध और सांख्यदर्शन	जीवो परिणामयदे	९३	
▸ कर्मबंध और जैन दर्शन	जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं	९४	८९
'' ''	ण वि कुव्वदि कम्मगुणे	९५	
▸ आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता है	जं कुणदि भावमादा	९६	९१

चतुर्थ श्रामण्य-अधिकार

▸ दर्शनहीन वंदनीय नहीं है	दंसणमूलो धम्मो	९७	९२
▸ दर्शन का अर्थ	दुविहंपि गंथचायं	९८	९३
▸ निर्ग्रंथ-मुद्रा ही दर्शन है	दंसेइ मोक्खमग्गं	९९	९४
▸ मुनि-मुद्रा का माहात्म्य	जह मूलम्मि विणट्ठे	१००	९५
▸ दर्शन भ्रष्ट दर्शनधारकों से पूजा चाहे तो?	जे दंसणेसु भट्ठा पाए	१०१	९६
▸ दर्शनधारक दर्शनभ्रष्ट की विनय करे तो ?	जेवि पडंति च तेसिं	१०२	९७
▸ निर्ग्रन्थ-मुद्रा के अनादर का फल	सहजुप्पण्णं रूवं	१०३	९८
,, ,,	अमराण वंदियाणं	१०४	
▸ संयमी को दोषी कहने वाला भ्रष्ट होता है	जो कोवि धम्मसीलो	१०५	१००
▸ तीन लिंग कथन	एगं जिणस्स रूवं बीयं	१०६	१०१
▸ जिनलिंग में उपकरण	उवयरणं जिणमग्गे लिंगं	१०७	१०२
▸ द्वितीय उत्कृष्ट लिंग के भेद	दुइयं च उत्तलिंगं	१०८	१०३
▸ तृतीय आर्यिका लिंग	लिंगं इत्थीणं हवदि	१०९	१०४
▸ स्त्री को प्रव्रज्या का निषेध	जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता	११०	१०५
▸ प्रव्रज्या का स्वरूप	तिलओसत्तणिमित्तं	१११	१०६
▸ तीन लिंग और वन्दना विधान	जो संजमेसु सहिओ	११२	१०७
,, ,,	अवसेसा जे लिंगी	११३	
▸ लिंग मात्र से मुक्ति नहीं	पाखंडीलिंगाणि य	११४	१०९
,, ,,	ण य होदि मोक्खमग्गो	११५	
▸ वस्त्रधारी को मोक्ष नहीं	ण वि सिज्झइ वत्थधरो	११६	१११
▸ समताहीन श्रमण की क्रियायें निरर्थक	किं काहदि वणवासो	११७	११२
▸ गुण ही वन्दनीय है	ण वि देहो वंदिज्जइ	११८	११३
▸ श्रमण का नेत्र	आगमचक्खू साहू	११९	११४
▸ मूलगुणों के विराधक को सिद्धि नहीं	मूलगुणं छित्तूण य	१२०	११५
▸ श्रमण को स्त्रियों की दीक्षा आदि का निषेध	दंसणणाणचरित्ते	१२१	११६
▸ मुनि के परिग्रह का निषेध	जहजायरूवसरिसो	१२२	११८
▸ गुणाधिक श्रमण की विनय का उपदेश	गुणदोधिगस्स विणयं	१२३	११९
▸ गुणहीन श्रमण से समाचार का निषेध	अधिकगुणा सामण्णे	१२४	१२०
▸ लौकिक संसर्ग त्याग का उपदेश	णिच्छिदसुत्तत्थपदो	१२५	१२१
▸ लौकिक श्रमण का स्वरूप	णिग्गंथो पव्वइदो	१२६	१२२
▸ उत्तम संगति का उपदेश	तम्हा समं गुणादो	१२७	१२३
▸ श्रमणचर्या और उद्दिष्टादि आहार दोष	आधाकम्मादीया पुग्गल	१२८	१२४
,, ,,	आधाकम्मादीया पुग्गल	१२९	
,, ,,	आधाकम्मं उद्देसियं च	१३०	१२६
,, ,,	आधाकम्मं उद्देसियं च	१३१	
▸ श्रमणों की भक्ति का फल	असुभोवयोगरहिदा	१३२	१२८
▸ मंगल-कामना	मुणिऊण एतदट्ठं तदणु	१३३	१२९
,, ,,	इदि णिच्छयववहारं जं	१३४	

प्रथम रत्नत्रय अधिकार

मंगलाचरण

अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढवि णिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं॥ १॥

सिद्धभक्ति १

लोकाग्र जा लस रहे वसु कर्म खो के, वे सिद्ध अष्ट-गुण पा करके अनोखे।
कर्त्तव्य था कर चुके कृतकृत्य प्यारे,पूजें सदा हम उन्हें उर में सुधारे॥

अन्वयार्थ - (अट्ठविहकम्ममुक्के) आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त (अट्ठगुणड्ढे) आठ गुणों से सम्पन्न (अणोवमे) अनुपम (अट्ठमपुढवि णिविट्ठे) अष्टम पृथ्वी में स्थित और (णिट्ठियकज्जे) कार्यों से निवृत्त हुये (सिद्धे) ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की (णिच्चं) नित्य (वंदिमो) वंदना करता हूँ।

अर्थ - ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त, अनन्तज्ञानादि आठ गुणों से सम्पन्न, अष्टम पृथ्वी ईषत्प्राग्भार में स्थित और अपने कार्य को पूर्ण करके कृतकृत्य हुए सिद्धपरमेष्ठी की मैं नित्य वन्दना करता हूँ।

भावार्थ - सिद्ध भगवान् के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाधत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, जन्म मरण रहितता (अवगाहनत्व), अशरीरत्व (सूक्ष्मत्व), नीच ऊँच रहितता (अगुरूलघुत्व), अनंत वीर्य (अर्थात् -क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य) ये गुण आठ कर्मों के क्षय से उत्पन्न हो जाते हैं। परम हैं, नित्य हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, निरञ्जन हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांग से अथवा समस्त पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया है, जो वज्रशिला निर्मित अभग्न प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त हैं। वे सिद्ध भगवान् लोक के अग्रभाग में सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से बारह योजन ऊपर जाकर ८ योजन मोटी अष्टम पृथ्वी ईषत् प्राग्भार से ७०५० धनुष ऊपर जाकर स्थित हैं ।

मोक्षमार्ग और उसका फल

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं॥ २॥

नियमसार २

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया,सन्मार्ग-मार्ग-फल को जिनने बताया।
सन्मार्ग तो परम-मोक्ष-उपाय प्यारा,निर्वाण ही फल रहा जिसका निराला।।

अन्वयार्थ - (**जिणसासणे**) जिन शासन में (**मग्गो य मग्गफलं ति**) मार्ग और मार्ग का फल (**दुविहं**) ये दो प्रकार (**समक्खादं**) कहे गये हैं (**मोक्खउवायो मग्गो**) मोक्ष की प्राप्ति का उपाय मार्ग है और (**तस्स फलं णिव्वाणं होइ**) उसका फल निर्वाण है।

अर्थ - जिनशासन में मार्ग और मार्ग का फल ये दो प्रकार कहे गये हैं मोक्ष की प्राप्ति का उपाय मार्ग है और उसका फल निर्वाण है ।

भावार्थ - जिसके द्वारा अपना इष्ट स्थान अथवा इष्ट वस्तु खोजी जाती है वह मार्ग है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय। उपाय को प्राप्त करके जो किया जाता है वही उस मार्ग का फल है वह निर्वाण-मोक्ष ही है

यह मार्ग छठवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यन्त रहता है अथवा कथंचित् पंचम गुणस्थान से भी प्रारम्भ होकर बारहवें तक रहता है अथवा चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यन्त भी यह रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग माना गया है। उसके ऊपर मोक्ष ही है। जो कि उस मार्ग का फल है।

समीचीन उद्देश्य बनाने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है पर उसे पूर्ण करने के लिये ध्यान की आवश्यकता है

व्यवहार मोक्षमार्ग

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥ ३॥

समयसार १६२

तत्त्वार्थ की रूचि सुदर्शन नाम पाता, औ तत्त्व को समझना वह ज्ञान साता।
रागादि त्याग करना वह वृत्त होता, तीनों मिलें बस वही शिव पन्थ होता।।

अन्वयार्थ - (**जीवादी सद्दहणं**) जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना (**सम्मत्तं**) सम्यग्दर्शन है। (**तेसिं अधिगमो णाणं**) उनका यथार्थ ज्ञान होना सम्यक् ज्ञान है (**रागादीपरिहरणं चरणं**) रागद्वेषादि से यथार्थ निवृत्त होना सम्यक् चारित्र है (**एसो दु**) इस प्रकार भेद रूप (तीनों का समुदाय रूप) (**मोक्खपहो**) मोक्ष पथ (मार्ग) है।

अर्थ - जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उनका यथार्थ ज्ञान होना सम्यक् ज्ञान है रागद्वेषादि से यथार्थ निवृत्त होना सम्यक् चारित्र है इस प्रकार भेद रूप (तीनों का समुदाय रूप) मोक्ष पथ (मार्ग) है।

भावार्थ -सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का नाम रत्नत्रय है जो कि मोक्ष का मार्ग है, आत्मा के लिये निराकुलता का उपाय है। यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो भागों में विभक्त है। अनादि काल का भूला यह भव्यात्मा जिन भगवान् से जीवादि सप्त तत्त्वों का या नव पदार्थों का स्वरूप सुनता है और उनके बतलाने के अनुसार उनके स्वरूप को स्वीकार करता है। इसी प्रकार उन्हें अपनी प्रतीति में लाता है और उनके आश्रय से अपने मन में उपजने वाले रागद्वेष को दूर करने का प्रक्रम रचता है। यह व्यवहार रत्नत्रय हुआ और अपने आत्मा के निर्विकल्प शुद्ध स्वरूप में उन सप्त तत्त्वों या नव पदार्थों के स्वरूप को भिन्न प्रकार का अर्थात् निर्विकल्पात्मक जानते हुये उससे ऊपर उठ कर केवल अपनी शुद्धात्मा के स्वरूप में रूचि प्रतीति तथा तल्लीनता प्राप्त करता है। इस निश्चय रत्नत्रय में व्यवहार रत्नत्रय कारण रूप होता है और निश्चय रत्नत्रय उसका कार्य है।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥ ४॥

समयसार १९

साधू चरित्र, दृग-बोध समेत पाले, आत्मा उन्हें समझ आतम गीत गाले।
ज्ञानी नितान्त निज में निज को निहारे,तो अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारे॥

अन्वयार्थ - (**साहुणा**) साधु को (**दंसणणाणचरित्ताणि**) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र (**णिच्चं**) सदा (**सेविदव्वाणि**) सेवन करने योग्य हैं (**पुण ताणि**) तथा इन (**तिण्णिवि**) तीनों को ही (**अप्पाणं चेव**) शुद्धात्मा (**णिच्छयदो**) निश्चय नय से (**जाण**) जानो।

अर्थ - साधु को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं तथा इन तीनों को ही शुद्धात्मा निश्चय से जानो ।

भावार्थ - साधुओं के द्वारा प्राथमिक अवस्था में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य सदा ही उपासनीय और सेवनीय है । किन्तु शुद्ध निश्चय नय से वे तीनों एक शुद्धात्म स्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं ऐसा समझना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि पंचेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीनों होते हैं।

पानी यदि रंगीन मटमैला है तो उसके अन्दर क्या पड़ा हुआ है ? दिखाई नहीं देता और यदि पानी साफ-सुथरा भी हो किन्तु हिल रहा हो, तरंगायित हो तब भी अन्दर क्या है? दिखाई नहीं देता अतः अन्दर झांकने के लिये पानी (मोह) और तरंग (योग) के अभाव में ही अन्तरंग (आत्मतत्त्व) का दर्शन होता है।

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥ ५॥

मोक्षपाहुड ९०

निर्ग्रन्थ मोक्षपथ हो गुरु ग्रन्थ त्यागी, वे देव अष्टदश दोष बिना विरागी।
हिंसा बिना धरम ही सबको सुहाता, श्रद्धान होय इनमें 'दृग' नाम पाता॥

अन्वयार्थ - (**हिंसारहिए धम्मे**) हिंसा रहित धर्म (**अट्ठारह दोस वज्जिए देवे**) अठारह दोष से रहित देव (**णिग्गंथे**) निर्ग्रन्थ श्रमण (**पव्वयणे**) प्रवचन (समीचीन शास्त्र) के (**सद्दहणं**) श्रद्धान करने से (**सम्मत्तं होइ**) व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है।

अर्थ - हिंसा रहित धर्म अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ श्रमण, प्रवचन (समीचीन शास्त्र) के श्रद्धान करने से व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है ।

भावार्थ - भगवान् अरिहन्त देव के अलावा अन्य देवों में भूख, तृषा, भय, राग, द्वेष, मोह, चिंता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, नींद, जन्म और उद्वेग - ये अठारह दोष पाये जाते हैं। अतः भगवान अरिहन्त के अलावा अन्य कोई भी देवी, देवता या भगवान् आदि सच्चे देव नहीं हैं। जिनधर्मों में हिंसा करने में धर्म बताया हो वे सच्चे धर्म नहीं हैं, निर्ग्रन्थ मुनि के अलावा अन्य परिग्रह सहित साधु भी साधु नहीं हैं, तथा सर्वज्ञ देव द्वारा कथित जिनवाणी के अलावा अन्य कोई भी उपदेश या शास्त्र सच्चा नहीं हैं, ऐसा श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

मार्ग पर चलते समय यदि कोई बोलने वाला मिल जाता है तो मार्ग तय करना सरल हो जाता है। गुरु निर्ग्रन्थ साधु हमारे मोक्षमार्ग के बोलने वाले साथी हैं। उनके अनुगामी बनने से हमारा मोक्षमार्ग सरल हो जाता है।

अठारह दोष

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजामिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो॥ ६॥

नियमसार ६

ये स्वेद खेद मद मृत्यु विमोह खारे, उद्वेग नींद भय विस्मय जन्म सारे।
औ रोग रोष रति राग जरा क्षुधा रे, चिंता तृषादिक सदोष जिनेश टारे।।

अन्वयार्थ - (**छुह तण्ह भीरु रोसो**) भूख, प्यास, भय, क्रोध (**रागो मोहो चिंता जरा रूजा मिच्चू**) राग, मोह, चिंता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, (**सेदं खेद मदो रइ**) पसीना, खेद, मद, रति (**विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो**) विस्मय, निद्रा, जन्म और अरति ये अठारह दोष हैं।

अर्थ - भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, स्वेद/पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और अरति-ये अठारह दोष हैं।

भावार्थ - क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, स्वेद/पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और अरति-ये अठारह दोष हैं। इनसे रहित जिनदेव होते हैं। जिनेन्द्र देव के अलावा अन्य सभी देव,देवी या भगवान् मानकर वर्तमान में पूजे जाने वाले देव सच्चे देव नहीं हैं, कल्पित हैं, आत्मकल्याणार्थी भव्य पुरुषों को वीतराग सर्वज्ञ देव के अलावा अन्य किसी भी देवी, देवता आदि की पूजा नहीं करना चाहिये।

अपने में कमी आना शिथिलता आना अलग बात है किन्तु मार्ग को ही वैसा प्रतिपादित करना ठीक नहीं। गलत को गलत, कमी को कमी तो स्वीकार करना चाहिये। यदि स्थार्थ या कषाय वशउसे ही मार्ग घोषित कर देते हैं तब निश्चित मानिये वह मिथ्यात्वी अनंत संसारी है।

सम्यग्दर्शन के हेतु

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी॥ ७॥

नियमसार ५३

सम्यक्त्व का वहजिनागम मात्र साता,होता निमित्त, अथवा जिन शास्त्र ज्ञाता।
पै अंतरंग वह हेतु सुनो सदा ही, होता क्षयादिक कुदर्शनमोह का ही॥

अन्वयार्थ - (**जिणसुत्तं**) जिनसूत्र [और] (**तस्स जाणया पुरिसा**) उनके जानने वाले पुरुष (**सम्मत्तस्स णिमित्तं**) सम्यक्त्व के निमित्त हैं। (**दंसणमोहस्स खयपहुदी**) दर्शन मोहनीय का क्षय, उपशम आदि (**अन्तरहेऊ भणिदा**) अन्तरंग हेतु कहे हैं।

अर्थ - जिनसूत्र और उनके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के निमित्त हैं। दर्शनमोहनीय का क्षय, उपशम आदि अन्तरंग हेतु कहे हैं ।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन का अन्तरङ्ग हेतु दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व,सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति ये तीन प्रकृतियाँ तथा चारित्र मोह की अनन्तानुबंधी क्रोध,मान,माया,लोभ ये चार प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होना है तथा बहिरङ्ग निमित्त जिनवाणी तथा उसके उपदेशक आचार्य आदि (जातिस्मरण, वेदनानुभव, जिनमहिमा दर्शन, देवऋद्धि दर्शन आदि) हैं।

अकेले दूसरों का उपदेश सुनकर ही वैराग्य को नहीं सम्हाला जा सकता बल्कि उसे स्थिर रखने के लिये स्व पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

निश्चय सम्यग्दर्शन

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ ८॥

समयसार १५

ये पुण्य, पाप अरू जीव अजीव आदि, होते पदार्थ नव मानत साम्यवादी।
भूतार्थ से विदित हों जब ये पदार्थ, सम्यक्त्व के विषय हैं 'दृग' हैं यथार्थ॥

अन्वयार्थ - (**भूदत्थेण**) भूतार्थ से (**अभिगदा**) जाने हुए (**जीवाजीवा य पुण्णपावं**) जीव, अजीव [**और**] पुण्य, पाप (**च**) तथा (**आसवसंवरणिज्जर बंधो**) आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध (**य**) और (**मोक्खो**) मोक्ष (**सम्मत्तं**) [**ये नव तत्त्व**] सम्यक्त्व हैं।

अर्थ - भूतार्थ से जाने हुये जीव-अजीव, पुण्य-पाप तथा आस्रव, संवर,निर्जरा,बन्ध और मोक्ष ये नव सम्यक्त्व हैं ।

भावार्थ - तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये प्रारम्भिक शिष्य की अपेक्षा निश्चयनय से जाने गये ये नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते है, फिर अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में वे शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं होते अतः अभूतार्थ, असत्यार्थ ठहरते है किन्तु इस परम समाधिकाल में तो उन नव पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्ध आत्मा ही अनुभव किया जाता है और तब जो शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चय सम्यक्त्व है। वे अनुभूति ही गुण-गुणी जनों में निश्चय नय से अभेद विवक्षा से शुद्धात्मा का स्वरुप है ऐसा तात्पर्य है जो प्रमाण, नय, निक्षेप है वे केवल परमात्मादि के तत्त्व विचार काल में सम्यक्त्व के सहकारी कारणभूत होते हैं ।

वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं, परम समाधि काल में तो वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं, उन सबमें भूतार्थ रूप ये एक शुद्ध जीव ही अनुभव में करता है ।

अध्यात्म और आचरण ही हमारे जीवन का आधार हो।

निश्चय सम्यग्दर्शन के आठ अंग

निःशंकित अंग

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्म मोहबाधकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ ९॥

समयसार २४४

मिथ्यात्व औरअविरती कुकषाय योगों,को रोकते,विधिविमोहक बाधकों को।
निःशंक हैं निडर हैं समदृष्टि वाले, वे वीतराग बन के मुनि शील पाले ॥

अन्वयार्थ - (**जो चेदा**) जो आत्मा (**कम्म मोहबाधकरे**) कर्मबन्ध, मोह तथा बाधा को उत्पन्न करने वाले (**ते चत्तारि वि**) उन चारों ही (**पाए**) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप पायों को (**छिन्ददि**) काटता है (**सो**) वह (**णिस्संको**) निःशंक (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**मुणेदव्वो**) जानना चाहिये।

अर्थ - जो आत्मा कर्मबन्ध, मोह तथा बाधा को उत्पन्न करने वाले उन चारों ही मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप पायों को काटता है वह निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।

भावार्थ - जो जीव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभरूप योग भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे संसार रूप वृक्ष के, जड़सरीखे हैं, एवं निष्कर्म जो आत्मतत्त्व से विलक्षणता लिए हुए होने से कर्मों को उत्पन्न करने वाले हैं, अमोही अव्याबाध और बाधा रहित सुख आदि गुणों का धारी जो परमात्मा पदार्थ है उससे पृथक् होने के कारण बाधा पैदा करने वाले हैं ऐसे उन आगम प्रसिद्ध चारों पायों को शुद्धात्मा की भावना में शंका रहित होकर स्वसंवेदन नाम वाले ज्ञान रूप खड्ग के द्वारा काट डालता है वह चेतन स्वरूपात्मा ही निशंक सम्यग्दृष्टि माना गया है। उसके शुद्धात्मा के विषय में शंका को पैदा करने वाला बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा ही निश्चित रूप से होती है ।

कथन की शैली भले लच्छेदार शब्दों से युक्त हो किन्तु वह कथंचित् से रहित है तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं माना जा सकता।

निःकांक्षित अंग

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तहय सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ १०॥

समयसार २४५

कांक्षा कभी न रखता जड़ पर्ययों में, धर्मों पदार्थ दल के विधि के फलों में।
होता वही मुनि निःकांक्षित अंगधारी, बंदूं उसे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी॥

अन्वयार्थ - (**जो दु चेदा**) जो आत्मा (**कम्मफले**) कर्मों के फल की (**तहय**) तथा (**सव्वधम्मेसु**) समस्त धर्मों की (**कंखं**) कांक्षा (**ण करेदि**) नहीं करता (**सो**) वह (**णिक्कंखो सम्मादिट्ठी**) निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि (**मुणेदव्वो**) जानना चाहिये।

अर्थ - जो आत्मा कर्मों के फल की तथा समस्त धर्मों की कांक्षा नहीं करता वह निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि को, समस्त कर्मफलों की वांछा नहीं होती तथा सर्व धर्मो की वांछा नहीं होती, अर्थात् सुवर्णत्व पाषाणत्व इत्यादि तथा निन्दा प्रशंसा आदि के वचन इत्यादि वस्तुधर्मो की अर्थात् पुद्गलस्वभावों की उसे वांछा नहीं है उनके प्रति समभाव है अथवा अन्य मतावलम्बियों के द्वारा माने गये अनेक प्रकार के सर्वथा एकान्त पक्षी व्यवहार धर्मों की उसे वांछा नहीं है उन धर्मों का आदर नहीं है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि वांछा रहित होता है । ऐसे ज्ञानी जीव के विषयों के सुख के इच्छा नहीं होती इसलिये उसके वांछा जन्य बन्ध नहीं होता है किन्तु पूर्व संचित कर्म की निर्जरा ही होती है ।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं यह प्रायः सभी को ज्ञात है किन्तु यह बात विशेष रूप से ध्यान देने के योग्य है कि सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग होते हैं। यदि इन अंगों का पालन किये बिना कोई स्वाध्याय, तत्त्व चर्चा या उपदेश करता है तो अब आप ही समझिये कि उसके पास कौन सा ज्ञान है।

निर्विचिकित्सा अंग

जो ण करेदि दुगुंच्छं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ ११॥

समयसार २४६

कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ, सारे सदा परिणमें निज में यथार्थ।
ज्ञानी न ग्लान करते मुनि हो किसी से, धारे तृतीय दृग अंग तभी रुचि से॥

अन्वयार्थ - (**जो चेदा**) जो आत्मा (**सव्वेसिमेव**) सभी (**धम्माणं**) धर्मों-स्वभावों के प्रति (**दुगुंच्छं**) जुगुप्सा-ग्लानि (**ण करेदि**) नहीं करता है, (**सो**) वह (**खलु**) निश्चय से (**णिव्विदिगिंछो**) निर्विचिकित्सक (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**मुणेदव्वो**) जानना चाहिये।

अर्थ - जो आत्मा सभी धर्मों -स्वभावों के प्रति जुगुप्सा-ग्लानि नहीं करता है वह निश्चय से निर्विचिकत्सक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।

भावार्थ - जो आत्मा अपने परम आत्म तत्त्व की भावना के बल से समस्त वस्तुओं के धर्मों-स्वभावों में वा दुर्गन्ध आदि के विषयों में जुगुप्सा, निन्दा, द्वेष व ग्लानि नहीं करता है, वह प्रकट रूप निर्विचिकित्सक सम्यग्दृष्टि है।

यह ज्ञानी अपनी आत्मा का यथार्थ निश्चय रखता हुआ रहता है, उसको किसी पदार्थ से घृणा नहीं होती अपितु वस्तु के स्वरुप को ध्यान में रखता है इस ज्ञानी के परद्रव्यों में द्वेष बुद्धि नहीं है इसलिये द्वेष करने के निमित्त से जो कर्म बन्ध होता है सो तो नहीं होता, किन्तु भेदविज्ञान के बल से पूर्व में एकत्र किये हुये कर्मों की निर्जरा ही होती है ।

ज्ञान के होने पर अनुभूति हो ही जायेगी यह कोई नियम नहीं है क्योंकि अनुभूति का सम्बन्ध चारित्र से है। हाँ------- जिस समय अनुभूति होगी उस समय ज्ञान अवश्य ही रहेगा।

अमूढदृष्टि अंग

जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ १२॥

समयसार २४७

ना मुग्ध मूढ़ मुनि हो जग वस्तुओं में, हो लीन आप अपने-अपने गुणों में।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ़-दृष्टि, नासाग्रदृष्टि रख नासत कर्म-सृष्टि॥ १२॥

अन्वयार्थ - (**जो चेदा**) जो आत्मा (**सव्वेसु कम्मभावेसु**) शुभ या अशुभ कर्मों के द्वारा उपजाये हुये शुभ अशुभ भावों में (**असम्मूढ़ो**) अमूढ़ एवं यथार्थ दृष्टि वाला (**हवदि**) होता है (**सो**) वह (**खलु**) निश्चय से (**अमूढ़दिट्ठी**) अमूढ़दृष्टि (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**मुणेदव्वो**) जानना चाहिये।

अर्थ - जो आत्मा शुभ या अशुभ कर्मों के द्वारा उपजाये हुये शुभ अशुभ भावों में अमूढ़ एवं यथार्थ दृष्टि वाला होता है वह निश्चय से अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।

भावार्थ - जो जीव सभी शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न भावों में नहीं पड़ता, कर्मों के उदय से जो दुःख रूप व बाह्य साता रूप पदार्थों की अवस्थाएँ होती हैं उनमें हर्ष और विषाद नहीं करता, उनका यथार्थ स्वरूप जानता है वह निश्चय से अमूढदृष्टि अंग का धारी सम्यग्दृष्टि होता है। इस ज्ञानी जीव के बाह्य पदार्थों में मूढ़ता अथवा ममता से होने वाला कर्म बन्ध नहीं होता है किन्तु पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा मुनि की होती है ।

पाचन क्षमता के अभाव में जिस तरह अकेले घी पीने मात्र से कोई पहलवान नहीं बनता ठीक इसी तरह अध्यात्म ग्रन्थों के स्वाध्याय मात्र से कोई ज्ञानी नहीं बनता।

उपगूहन अंग

जो सिद्धभत्ति जुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ १३॥

समयसार २४८

मिथ्यात्व आदिक शुभाशुभ भाव छोड़े, है सिद्धभक्ति रत है मन को मरोड़े।
सम्यक्त्व संग उपगूहन अंगधारी, वे मान्य पूज्य अनगार,नहीं अगारी॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो आत्मा (**सिद्धभत्तिजुत्तो**) सिद्धभक्ति से युक्त है (**दु**) और (**सव्वधम्माणं**) रागादि वैभाविक सभी धर्मों का (**उवगूहणगो**) उपगूहक-नाश करने वाला है (**सो**) वह (**उवगूहणगारी**) उपगूहनकारी (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**मुणेदव्वो**) जानना चाहिये।

अर्थ - जो आत्मा सिद्धभक्ति से युक्त है और रागादि वैभाविक सभी धर्मों का उपगूहक-नाश करने वाला है वह उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये

भावार्थ - जो ज्ञानी शुद्ध आत्मा की भावनामयी परमार्थ स्वरूप निश्चय सिद्धभगवान् की भक्ति में तल्लीन है और मिथ्यादर्शन, रागद्वेष आदि सर्व विभाव भावों का आच्छादन करने वाला है, वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि होता है। उस जीव के दोषों को नहीं छिपाने रूप अनूपगूहन के द्वारा किया गया बन्ध नहीं होता किन्तु उसके तो निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है। सत्य तो यह है जिसने निश्चय सिद्ध भगवान् की भक्ति में अपना मन लगाया है उसमें तन्मय हो गया है तो उसका उपयोग अन्य विभाव भावों पर कैसे रहेगा, वे तो सब दबे ही रहेंगे और ऐसी ज्ञानी के यथार्थ में उपगूहन अंग होता है ।

श्रुतज्ञान की सार्थकता तो तभी मानी जायेगी जब हेय उपादेय की जानकारी प्राप्त कर हम हेय से बचने एवं उपादेय को ग्रहण करने का प्रयास करेंगे।

स्थितिकरण अंग

उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं।
सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ १४॥

समयसार २४९

उन्मार्ग पे विचरता मन को हटाता, सन्मार्ग पे नियम से मुनि जो लगाता।
वो ही स्थितिकरण अंग सुधारता है, संसार से तिर रहा जग तारता है।।

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**उम्मग्गं गच्छंतं**) उन्मार्ग में जाते हुये (**अप्पाणं**) अपनी आत्मा को (**सिवमग्गे**) शिवमार्ग में (**ठवेदि**) स्थापित करता है (**सो**) वह (**ठिदिकरणेण जुदो**) स्थितिकरण युक्त (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**मुणेदव्वो**) जानना चाहिये।

अर्थ - जो उन्मार्ग में जाते हुये अपनी आत्मा को शिवमार्ग में स्थापित करता है वह स्थितिकरण युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।

भावार्थ - जो मोक्षमार्ग से विपरीत संसार के कुमार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को शिवमार्ग में अर्थात् अपने शुद्धात्मा की भावना स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग में परम योगाभ्यास के बल से निश्चल स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितिकरण अंग का धारक सम्यग्दृष्टि होता है। उसके अस्थितिकरण दोष के कारण किया हुआ बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा ही होती है ।

आत्मा वर्तमान में अमूर्त नहीं है किन्तु वीतरागता के माध्यम से वह अमूर्त बन सकती है। कर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से है और विशेष बात यह है कि मात्र कर्म, कर्म से नहीं बँधा है बल्कि कर्म और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध हुआ है। जिसका विघटन या तो सविपाक निर्जरा के माध्यम से हो सकता है या अविपाक निर्जरा से। मुक्ति की प्राप्ति के लिये हमें अविपाक निर्जरा ही अभीष्ट है।

वात्सल्य अंग

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ १५॥

समयसार २५०

ज्ञानादि रत्नतिय में शिव-पंथियों में, वात्सल्य भाव रखता मुनि-पुंगवों में।
माना गया समय में समदृष्टिवाला, वात्सल्यअंग अवधारक शांतशाला॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो आत्मा (**मोक्खमग्गम्मि**) मोक्षमार्ग में (**तिण्हे साहूण**) तीन - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र - इन तीन साधनों में (**वच्छलत्तं**) वात्सल्य (**कुणदि**) करता है। (**सो**) वह (**वच्छलभाव जुदो**) वात्सल्यभाव से युक्त (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**मुणेदव्वो**) जाननाचाहिये।

अर्थ - जो आत्मा मोक्षमार्ग में तीन-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन साधनों में वात्सल्यभाव से युक्त है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।

भावार्थ - जो श्रमण मोक्षमार्ग में स्थित होकर मोक्षमार्ग के साधनभूत स्वकीय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र में अथवा व्यवहार से मोक्षमार्ग के साधक तीन साधुओं-आचार्य, उपाध्याय और साधु के प्रति वात्सल्य-भक्ति रखता है, उनमें धार्मिक प्रेम रखता है, वह वात्सल्य भाव से युक्त सम्यग्दृष्टि है। ऐसे ज्ञानी जीव के अवात्सल्य भावभूत बन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है ।

जो शाश्वत है उसी का अनुभव किया जा सकता है। जो नश्वर है, पकड़ते-पकड़ते ही चला जाने वाला है उसका अनुभव नहीं किया जा सकता। कहने का मतलब है द्रव्य दृष्टि रखकर निर्विकल्प होने की साधना करो, पर्यायों में आसक्त (उलझकर) होकर संकल्प विकल्प का जाल मत बनाओ।

विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ १६॥

समयसार २५१

हो रूढ़ ध्यान रथ, हाथ लगाम लेता, जो धावमान मनको झट थाम लेता।
सम्यक्त्व मंडित महामुनि साधना है, होती नितान्त जिनधर्म प्रभावना है॥

अन्वयार्थ - (**जो चेदा**) जो आत्मा (**विज्जारहमारूढो**) विद्यारूपी रथ में आरूढ़ हुआ (**मणोरहरएसु**) मन रूपी रथ के वेगों को (**हणदि**) नष्ट करता है (**सो**) वह (**जिणणाण पहावी**) जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**मुणेदव्वो**) जानना चाहिये।

अर्थ - जो आत्मा विद्यारूपी रथ में आरूढ़ हुआ मन रूपी रथ के वेगों को नष्ट करता है वह जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।

भावार्थ - जो जीव शुद्धात्मोपलब्धिरूप विद्यारथ पर आरूढ़ होकर मन रूपी रथ के वेगों को अर्थात् जगत् में प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व भोगों की इच्छा को आदि लेकर निदान बन्ध आदि विभाव परिणाम रूप तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार सांसारिक दुःखों के कारण चित्त की कल्लोल रूप आत्मा के शत्रुओं को, आत्मा में स्थित भाव रूपी सारथी के बल से अतिदृढ ध्यान रूपी खड्ग के द्वारा नष्ट करता है, वही जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है। ऐसे ज्ञानी जीव के अप्रभावना से होने वाला बन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है ।

इस प्रकार इन गाथाओं द्वारा यह जो निःशंकितादि आठ अंगों का व्याख्यान किया गया है वह निश्चय नय की प्रधानता से किया गया है।

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं॥ १७॥

सूत्रपाहुड १

जो भी लखा सहज से अरहन्त गाया, सत्-शास्त्र बाद गणनायक ने रचाया।
सूत्रार्थ को समझने पढ़ शास्त्र सारे, साधे अतः श्रमण हैं परमार्थ प्यारे॥

अन्वयार्थ - (**अरहंतभासियत्थं**) अरहंत भगवान के द्वारा प्रतिपादित है (**गणहर देवेहिं**) गणधर देवों के द्वारा (**सम्मं गंथियं**) सम्यक् प्रकार गुंफित है (**सुत्तत्थ मग्गणत्थं**) आगम के अर्थ का अन्वेषण करना ही जिसका प्रयोजन है, उसे सूत्र कहते हैं, ऐसे सूत्र के द्वारा (**सवणा**) सम्यग्दृष्टि दिगम्बर साधु (**परमत्थं**) परमार्थ को (**साहंति**) साधते हैं।

अर्थ - अरहंत भगवान के द्वारा प्रतिपादित है गणधर देवों के द्वारा सम्यक् प्रकार गुंफित है आगम के अर्थ का अन्वेषण करना ही जिसका प्रयोजन है,उसे सूत्र कहते हैं, ऐसे सूत्र के द्वारा सम्यग्दृष्टि दिगम्बर साधु परमार्थ को साधते हैं ।

भावार्थ - अरहंत भगवान् ने जिसका अर्थरूप में प्रतिपादन किया है, और चार ज्ञान के धारी, आठ महाऋद्धियों से सहित, गणधरदेव ने जिसकी द्वादशाङ्ग रूप रचना की है उसे सूत्र कहते हैं। यह सूत्र अर्थात् शास्त्र पूर्वापर विरोध से रहित होता है सूत्र प्रतिपादित अर्थ की खोज करना ही शास्त्र का प्रयोजन हैं ऐसे सूत्र का आलम्बन लेकर श्रमण-मुनिराज परमार्थ रूप मोक्ष को साधते हैं। अपने वश करते हैं। इस तरह सूत्र मोक्ष का कारण हैं।

तात्पर्य यह है कि ऐसे सूत्र (श्रुत) एवं उसके आधार से होने वाले ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

समता का अर्थ पक्षपात नहीं है वह तो
राग द्वेष से रहित एक परम पुरुषार्थ है।

ज्ञान का अर्थ

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं॥ १८॥

शीलपाहुड ४०

निर्ग्रन्थ रूप शुचि दर्शन युक्त होना, सम्यक्त्व है जिनप में शुभ भक्ति होना। सो शील है विषयके प्रति राग ना हो, वो ज्ञान कौन कब है इनके बिना हो ?।।

अन्वयार्थ - (**अरहंते**) अरहंत भगवान् में (**सुहभत्ती**) शुभ भक्ति का होना (**सम्मत्तं**) सम्यक्त्व है। जो (**दंसणेण**) सम्यक् दर्शन से (**सुविसुद्धं**) विशुद्ध होता है तथा (**विसयविरागो**) विषयों से विरक्ति का होना (**सीलं**) शील है (**पुण**) अतएव ये दोनों ही ज्ञान हैं (**णाणं**) इसके अतिरिक्त ज्ञान (**केरिसं**) किस प्रकार (**भणियं**) कहा गया है।

अर्थ - अरहंत भगवान् में शुभ भक्ति का होना सम्यक्त्व है। जो सम्यक् दर्शन से विशुद्ध होता है तथा विषयों से विरक्ति का होना शील है अतएव ये दोनों ही ज्ञान हैं इसके अतिरिक्त ज्ञान किस प्रकार कहा गया है।

भावार्थ - अरहंत भगवान् में शुभभक्ति का होना सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व जो सम्यग्दर्शन के आठ अंगों से विशुद्ध होता है। तथा विषयों से विरक्ति का होना ही शील है। अतएव ये दोनों ही ज्ञान हैं। इनसे अतिरिक्त ज्ञान और क्या हो सकता है? अन्य मतों में ज्ञान को सिद्धि का कारण कहा है परन्तु जिस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व तथा शील नहीं है वह अज्ञान है उस अज्ञान रूप ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती।

जो विश्व को जानने का प्रयास करेगा वह सर्वज्ञ नहीं बन सकता किन्तु जो स्वयं को जानने का प्रयास करेगा वह स्वयं को तो जान ही लेगा साथ ही सर्वज्ञ भी बन जायेगा।

जिनवचन महिमा

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥ १९॥

दर्शनपाहुड १७

पीयूष है विषय सौख्य विरेचना है, पीते सुशीघ्र मिटती चिर-वेदना है। भाई ! जरा मरण रोग विनाशती है, संजीवनी सुखकरी जिनभारती है॥

अन्वयार्थ - (**इणं**) यह (**जिणवयणमोसहं**) जिनवचन रूपी औषधि (**विसयसुह विरेयणं**) विषय सुख का विरेचन करने वाली है। (**अमिद भूयं**) अमृतरूप है, (**जरमरणवाहिहरणं**) जरा और मरण की व्याधि आदि को हरने वाली है तथा (**सव्वदुक्खाणं**) सब दुःखों का (**खयकरणं**) क्षय करने वाली है।

अर्थ - यह जिनवचन रूपी औषधि विषय सुख का विरेचन करने वाली है। अमृतरूप है, जरा और मरण की व्याधि आदि को हरने वाली है तथा सब दुःखों का क्षय करने वाली है।

भावार्थ - जिस प्रकार उत्तम औषधि शरीर के भीतर विद्यमान मल का विरेचन कर व्याधि को दूर करती है, तथा मनुष्य के असामयिक मरण को दूर कर उसके सब दुःखों का क्षय कर देती है उसी प्रकार कार्य कारणभाव-निमित्त -नैमित्तिकभाव से सहित जिनवाणी रूपी औषधि मनुष्य की आत्मा में विद्यमान पञ्चेन्द्रियों के विषयभूत स्पर्श,रस,गन्ध,वर्ण और शब्दों के सम्बन्ध से होने वाले विषयसुख का विरेचन करने वाली अमृतरूप है, वृद्धावस्था-मरण-व्याधि आदि की पीड़ा को हरने वाली है शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखों का क्षय करने वाली है।

सम्यग्दर्शन अनुकम्पा की अपेक्षा नवनीत की तरह कोमल है किन्तु सिद्धान्त की अपेक्षा वज्र से भी ज्यादा कठोर है।

निश्चय चारित्र

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।। २०।।

प्रवचनसार १-७

चारित्र ही नियम से वह धर्म माना, सो धर्म भी विदित हो समसाम्य बाना।
तू मान, साम्य अपना परिणाम होता, जो मोहरोष रति का उपराम होता॥

अन्वयार्थ - (**चारित्रं खलु धम्मो**) चारित्र ही धर्म है (**जो धम्मो**) जो धर्म है (**सो समो**) वह समताभाव रूप (**णिद्दिट्ठो**) कहा गया है (**समो**) समता (**हु**) ही (**मोहक्खोहविहीणो**) मोह क्षोभ रहित [ऐसा] (**अप्पणो परिणामो**) आत्मा का परिणाम [भाव] है।

अर्थ - चारित्र ही धर्म है जो धर्म है वह समताभाव रूप कहा गया है समता ही मोह क्षोभ रहित ऐसा आत्मा का परिणाम है।

भावार्थ - चारित्र ही धर्म है तथा वह चारित्र समताभाव रूप कहा गया है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही समता है।

यहाँ मोह शब्द का वाच्यार्थ दर्शनमोह तथा क्षोभ शब्द का वाच्यार्थ चारित्रमोह है। चूँकि चारित्रमोहनीय कर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है, अतः वहाँ तक इस समतारूप चारित्र की उत्पत्ति संभव नहीं है। जैसा कि अमृतचन्द्रसूरि ने इस गाथा की टीका में उल्लेख किया है-स्वरूप में रमण करना सो चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है, वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होने से (विषमता रहित सुस्थित आत्मा का गुण होने से) साम्य है, और साम्य, दर्शनमोहनीय कर्म तथा चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ (राग-द्वेष) के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम है।

मोह के लिङ्ग / चिह्न

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुवतिरिएसु।
विसएसु य अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि॥ २१॥

प्रवचनसार १-८५

तत्त्वार्थ का ग्रहण जो विपरीत होना, तिर्यंच में मनुज में करुणा न होना।
संसार के विषय में लवलीन होना, ये मोह चिन्ह, इनसे तुम हीन होना॥

अन्वयार्थ - (**अट्ठेअजधागहणं**) पदार्थ का अयथार्थ श्रद्धान (**य**) और (**मणुवतिरिएसु**) मनुष्यों और तिर्यञ्चों के प्रति (**करुणाभावो**) करुणा का अभाव (**य**) और (**विसएसु अप्पसंगो**) विषयों में आसक्ति (**एदाणि**) यह सब (**मोहस्स लिंगाणि**) मोह के लिङ्ग हैं।

अर्थ - पदार्थ का अयथार्थ श्रद्धान और मनुष्यों और तिर्यञ्चों के प्रति करूणा का अभाव और विषयों में आसक्ति यह सब मोह के लिङ्ग हैं।

भावार्थ - पदार्थों का अयथार्थ श्रद्धान, तिर्यञ्चों एवं मनुष्यों में करूणा का अभाव एवं विषयों में आसक्ति-ये मोह के चिह्न हैं। मोह के चिह्नों में एक चिह्न करूणा का अभाव भी बतलाया गया है, जो ठीक ही है, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द ने ही कहा है कि "धम्मो दया विसुद्धो" अर्थात् धर्म वही है जो दया से विशुद्ध होता है।

अतः मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों के प्रति करूणा का अभाव होना मोह (दर्शनमोह) का लक्षण है, न कि उन पर करूणा का होना।

कार्य समय के अनुसार नहीं होता किन्तु भावों के अनुसार होता है। यदि समय के अनुसार कार्य हो तो समय असंख्यात हैं और जीव अनंत, फिर विरोधाभास आयेगा।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि॥ २२॥

चारित्रपाहुड ५

श्रद्धान जैनमत में अति शुद्ध होना, सम्यक्त्व का चरण चारित धार लो ना।
औ संयमाचरण चारित दूसरा है, सर्वज्ञ से कथित सेवित है खरा है॥

अन्वयार्थ -(पढमं) प्रथम (सम्मत्तचरणचारित्रं) सम्यक्त्वाचरण चारित्र है जो (जिणणाणदिट्ठि सुद्धं) जिनेन्द्र देव के ज्ञान और दर्शन से शुद्ध है (विदियं) दूसरा (संजमचरणं) संयमाचरण (तंपि) वह भी (जिणणाण-सदेसियं) जिनेन्द्र देव के सम्यक् ज्ञान के द्वारा कहा गया है।

अर्थ - प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र है जो जिनेन्द्र देव के ज्ञान और दर्शन से शुद्ध है दूसरा संयमाचरण वह भी जिनेन्द्र देव के सम्यक् ज्ञान के द्वारा कहा गया है।

भावार्थ - चारित्र के दो भेदों में पहला भेद सम्यक्त्वाचरण चारित्र है, जो जिन भगवान् के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान और श्रद्धान से शुद्ध होता है। दूसरा भेद संयमाचरण चारित्र है। इसका भी जिनदेव के ज्ञान द्वारा उपदेश दिया गया है।

जिनमत में दो प्रकार के चारित्र कहे गये हैं। प्रथम चारित्र सम्यक्त्वाचरण चारित्र है जो अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में होता है एवं दूसरा संयमाचरण चारित्र है, जो संयतासंयत आदि गुणस्थानों में होता है।

रत्नत्रय ही हमारी अमूल्य निधि है, इसे बचाना है।
इसको लूटने के लिये कर्म चोर सर्वत्र घूम रहे हैं।
जागते रहो, सो जाओगे तो तुम्हारी निधि लुट जायेगी।

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण॥ २३॥
णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ॥ २४॥
तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं॥ २५॥

चारित्रपाहुड ६, ७, ८

मिथ्यात्व पंक तुमने निज पे लिपाया, शंकादि मैल दृग के दृग पे छिपाया।
वाक् काय से मनस से उनको हटाओ सम्यक्त्व आचरणमें निजको बिठाओ।।
ये अष्टअंग दृग के, विनिशंकिता हैं, नि:कांक्षिता विमल निर्विचिकित्सिता है।
चौथा अमूढ़पन है उपगूहना को, धारो स्थितिकरण वत्सलभावना को॥
श्रद्धान होय जिनमें वह मोक्ष दाता, नि:शंक आदि गुण युक्त सुदृष्टि साता।
धारो सुबोधयुत दर्शन को सुचारा, सम्यक्त्व आचरण चारित वो तुम्हारा॥

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार चारित्र के भेदों को (णाऊण) जानकर (सव्वे मिच्छत्तदोस संकाई) समस्त शङ्कादि मिथ्यात्व रूप दोषों को (तिविहजोएण) तीनों योगों से (परिहरि) परिहार करो। क्योंकि ये (जिणभणिया) जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये (सम्मत्तमला) सम्यक्त्व के मल हैं।

(णिस्संकिय) नि:शङ्कित (णिक्कंखिय) नि:कांक्षित, (णिव्विदिगिंछा) निर्विचिकित्सा (अमूढदिट्ठी) अमूढदृष्टि (उवगूहण) उपगूहन (ठिदिकरणं) स्थितिकरण (बच्छल्ल) वात्सल्य (य) और (पहावणा) प्रभावना (ते अट्ठ) ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।

(गुणविसुद्धं) नि:शङ्कितादि गुणों से विशुद्ध (तं) वह (जिणसम्मत्तं) जिनसम्यक्त्व है जो (सुमुक्खठाणाय) उत्तममोक्ष रूप स्थान की प्राप्ति के लिये निमित्तभूत है (णाणजुत्तं चरइ) ज्ञान से युक्त आचरण वाला (पढमं) प्रथम (सम्मत्तचरण चारित्तं) सम्यक्त्वाचरण चारित्र है।

अर्थ - इस तरह कहे गये चारित्र के भेदों को जानकर मिथ्यात्व के उदय में होने वाले शंकादि दोषों को मन-वचन तथा काय से छोड़ो क्योंकि भगवान ने उन्हें सम्यक्त्व के मल कहा है।

निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना - ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, जो शङ्कादि दोषों के दूर होने से प्रकट होते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये सम्यग्दर्शन के साथ पूर्वोक्त आठ अंगों का ज्ञानपूर्वक जो आचरण है, वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र है।

कुछ लोग सम्यक्त्वाचरण चारित्र को ही स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं, यह उनकी भ्रान्त धारणा है। स्वरूपाचरण चारित्र प्रमत्तदशा के साथ में मानना संगत नहीं है।

सर्वज्ञत्व आत्मा का स्वाभाव नहीं है यह उनके उज्जवल ज्ञान की परिणति मात्र है। अतः व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा जाता है कि भगवान् सब को जानते हैं किन्तु निश्चय नय से ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो अपना, अपने को, अपने साथ, अपने लिये, अपने से, अपने में जानने देखने से सिद्ध होता है। ऐसा समयसार का व्याख्यान है।

संयमाचरण चारित्र

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं॥ २६॥

चारित्रपाहुड २०

सागार और अनगार तथा द्विधा है, वो संयमाचरण मोक्षद है सुधा है।
सागार संग युत श्रावक का कहाता, निर्ग्रन्थ रूप 'अनगार' मुझे सुहाता॥

अन्वयार्थ - (संजमचरणं दुविहं) संयमाचरण दो प्रकार का है (सायारं तह णिरायारं) सागार और निरागार (हवे) होता है (खलु) निश्चय से (सायारं सग्गंथे) सागार परिग्रह सहित, (णिरायारं) निरागार (परिग्गहा) परिग्रह (रहिय) रहित के ही होता है।

अर्थ - संयमाचरण दो प्रकार का है सागार और निरागार होता है निश्चय से सागार परिग्रह सहित, निरागार परिग्रह रहित के ही होता है।

भावार्थ - संयमाचरण चारित्र सागार और निरागार-अनगार के भेद से दो प्रकार का होता है। सागारचारित्र परिग्रह सहित श्रावक के होता है तथा निरागार चारित्र परिग्रह रहित मुनि के होता है।

हिंसादि पाँच पापों से विरत होने का नाम व्रत है और व्रतों को ग्रहण करना संयम है। वह संयम पात्र भेद के अनुसार दो प्रकार का है। सागार संयमाचरण चारित्र पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक के होता है एवं अनगार संयमाचरण चारित्र उपरितन प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती मुनियों के होता है।

चार आना दोष पश्चाताप से नष्ट हो जाता है, चार आना गुरु को बतलाने से, चार आना प्रायश्चित लेने से ओर शेष बचा हुआ दोष सामायिक में बैठने से समाप्त हो जाता है।

श्रावकों का संयमाचरण चारित्र

दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य॥ २७॥

चारित्रपाहुड २१

सद्दर्शना सुव्रत सामयकी स्व शक्ति, औ प्रोषधी सचित त्याग दिवाभिभुक्ति।
है ब्रह्मचर्य व्रत सप्तम नाम पाता, आरंभ संग अनुमोदन त्याग साता।
उद्दिष्ट त्याग व्रत ग्यारह ये कहाते, हैं एक देश व्रत श्रावक के सुहाते॥

अन्वयार्थ - (**दंसण**) दर्शन, (**वय**) व्रत, (**सामाइय**) सामायिक, (**पोसह**) प्रोषध (**सच्चित्त**) सचित्तभुक्तित्याग (**रायभत्ते**) रात्रिभुक्तित्याग (**य**) और (**बंभारंभ**) ब्रह्मचर्य एवं आरम्भ त्याग (**परिग्गह**) परिग्रहत्याग (**अणुमण**) अनुमतित्याग (**य**) तथा (**उद्दिट्ठ**) उद्दिष्टत्याग [इन ग्यारहप्रतिमाओं के ग्रहणरूप संयमाचरणचारित्र] (**देसविरदो**) देशविरत श्रावक के होता है।

अर्थ - दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग तथा उद्दिष्टत्याग-इन ग्यारह प्रतिमा के ग्रहण रूप संयमाचरण चारित्र देशविरत श्रावक के होता है।

भावार्थ - ये ग्यारह श्रेणियाँ उत्तरोत्तर विकास को लिये हुये हैं । साधक पूर्व-पूर्व की भूमिकाओं से उत्तरोत्तर भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है। जैसे ग्यारहवीं कक्षा में प्रवेश करने वालें में दसवीं की योग्यता होनी चाहिये, वैसे ही उत्तर-उत्तर की प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व के गुण समाविष्ट रहते हैं । वैराग्य की प्रकर्षता के अनुरूप इन्हें इस क्रम में रखा गया है कि कोई भी साधक क्रमशः इनका अनुसरण करते हुये जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इनके ग्रहण रूप संयमाचरण चारित्र श्रावकों के होता है इसे देशविरत गुणस्थान की संज्ञा दी गयी है ।

व्रत संकल्प लेने के पूर्व जितना उत्साह होता है उतना ही उत्साह उसके निर्वाह करने के लिये भी होना चाहिये।

श्रावक के बारह व्रत

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं॥ २८॥

चारित्रपाहुड २२

सानन्द श्रावक अणुव्रत पांच पालें, आरम्भ नाशक गुणव्रत तीन धारें।
शिक्षा व्रतों चहुँ धरें वह है कहाता, सागार संयम सुचारित सौख्य दाता॥

अन्वयार्थ - (**पंचेवणुव्वयाइं**) पाँच अणुव्रत (**तिण्णि गुणव्वयाइं**) तीन गुणव्रत (**तह**) तथा (**चत्तारि सिक्खावय**) चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत (**सायारं**) सागार - गृहस्थ के (**संजमचरणं**) संयमाचरण हैं।

अर्थ - पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप बारह व्रतों का पालन करना यह सागार/श्रावकों का संयमाचरण चारित्र है।

भावार्थ - आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रावकों के पाँच अणुव्रत - अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत,ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा परिग्रह परिमाणुव्रत, तीन गुणव्रत- दिग्व्रत, अनर्थदण्डत्यागव्रत, भोगापभोगपरिमाणव्रत,चार शिक्षाव्रत-सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा (संविभाग)तथा सल्लेखना धारण करना-ये बारह व्रत बतलाये हैं।

जैसे वृक्ष की जड़ में कीड़ा लग जाने पर उसका सिंचन और संरक्षण कोई मायना नहीं रखता। ठीक इसी प्रकार शल्य (विकल्प) सहित व्रतों का पालन सार्थक नहीं है। अतः शल्य रूपी कीड़े को निकालकर वैराग्य रूपी जल से भरा यदि सिंचन किया जाता है तो जीवन में व्रत रूपी वृक्ष नियम से हरा-भरा होगा।

मुनियों का संयमाचरण चारित्र

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं णिरायारं॥ २९॥

चारित्रपाहुड २८

पच्चीस हों शुचि क्रिया व्रत पंच धारें,पंचाक्ष के दमन से सब पाप टारें।
औगुप्ति तीन समिति मुनि पाँच पालें,वो संयमाचरण साधक नग्न प्यारे॥

अन्वयार्थ - (**पंचिंदिय संवरणं**) पञ्चेन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकना (**पंचविंस किरियासु**) पच्चीस क्रियाओं के रहते हुये (**पंचवया**) पञ्च महाव्रत धारण करना (**पंच समिदि**) पाँच समितियों का पालन, (**तयगुत्ती**) तीन गुप्तियों को धारण करना (**णिरायारं**) निरागार-मुनियों का (**संजमचरणं**) संयमाचरण है।

अर्थ - पञ्चेन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकना, पच्चीस क्रियाओं के रहते हुये पञ्च महाव्रत धारण करना, पाँच समितियों का पालन, तीन गुप्तियों को धारण करना निरागार-मुनियों का संयमाचरण है।

भावार्थ - स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों को कछुए की तरह संकुचित करना अर्थात् जिस तरह विपत्ति देख कछुआ अपने सब अवयवों को संकुचित कर पीठ के नीचे कर लेता है उसी प्रकार मुनि भी अपनी स्पर्शनादि इन्द्रियों को सब ओर से हटा कर आत्मस्वरूप में संकुचित कर लेते है। पाँच महाव्रत तथा प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं को लेकर पच्चीस भावनायें, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप चारित्र पालन मुनियों का संयमाचरण चारित्र है।

॥ प्रथम रत्नत्रय अधिकार समाप्त॥

जिस तरह चश्में को उसके साथ रखे हुये कपड़े के द्वारा बार-बार साफ करते हैं ठीक उसी प्रकार अंगीकृत व्रतों को भी भावनाओं के द्वारा परिमार्जित करते रहना चाहिये।

द्वितीय उपयोग अधिकार

द्रव्य-गुण-पर्याय विवेचन

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति॥ ३०॥

पंचास्तिकाय १२

पर्याय के बिन कभी नहिं द्रव्य पाना, पर्याय भी न मिलती बिन द्रव्य बाना।
दोनों परस्पर मिले रहते रहेंगे, ऐसे हमें श्रमण हैं कहते रहेंगे॥

अन्वयार्थ - (**पज्जय विजुदं**) पर्याय रहित (**दव्वं णत्थि**) द्रव्य नहीं है, (**य**) और (**दव्व विजुत्ता**) द्रव्य रहित (**पज्जया**) पर्याय (**णत्थि**) नहीं है, (**समणा**) श्रमण जो हैं (**दोण्हं**) द्रव्य और पर्याय को (**अणण्णभूदं**) अभेद स्वरूप (**परुविंति**) कहते हैं।

अर्थ - पर्याय रहित द्रव्य नहीं है और द्रव्य रहित पर्याय नहीं है, श्रमण जो हैं द्रव्य और पर्याय को अभेद स्वरूप कहते हैं।

भावार्थ - जैसे गोरस अपने दूध, दही, घी आदिक पर्यायों से जुदा नहीं है उसी प्रकार द्रव्य अपनी पर्यायों से जुदा (पृथक्) नहीं है और पर्याय भी द्रव्य से जुदे नहीं हैं। इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय की एकता है यद्यपि कथंचित् प्रकार, कथन की अपेक्षा समझाने के लिए भेद है तथापि वस्तुस्वरूप के विचारते भेद नहीं है क्योंकि द्रव्य और पर्याय का परस्पर एक अस्तित्व है। यदि द्रव्य न हो तो पर्याय का अभाव हो जाय और पर्याय न हो तो द्रव्य का अभाव हो जाय । जिस प्रकार दुग्धादि पर्याय के अभाव से गोरस का अभाव है और गोरस के अभाव से दुग्धादि पर्यायों का अभाव होता है। इसी प्रकार इन दोनों द्रव्यपर्यायों में से एक का अभाव होने से दोनों का अभाव होता है। इस कारण इन दोनों में एकता (अभेद) माननी योग्य है।

अपनी दृष्टि तक सीमित रहते हुए भी दूसरों की दृष्टि पर प्रहार नहीं करना नय है।

द्रव्य एवं गुण की अनन्यता

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा॥ ३१॥

पंचास्तिकाय १३

ये द्रव्य के बिन कभी गुण ही न भाते, औ द्रव्य भी वह नहीं गुण हीन पाते।
तादाम्यभाव रख आपस में सदी से, लो द्रव्य और गुण हैं रहते इसी से॥३१॥

अन्वयार्थ - (**दव्वेण विणा**) द्रव्य के बिना (**गुण**) गुण - वस्तुओं के जनाने वाले लक्षण (**ण संभवदि**) नहीं होते (**गुणेहिं विणा**) गुणों के बिना (**दव्वं ण संभवदि**) द्रव्य नहीं होता (**तम्हा**) इस कारण (**दव्वगुणाणं**) द्रव्य और गुणों का (**अव्वदिरित्तो**) जुदा नहीं है ऐसा (**भावो**) स्वरूप (**हवदि**) होता है।

अर्थ - द्रव्य के बिना गुण-वस्तुओं के जनाने वाले लक्षण नहीं होते गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता इस कारण द्रव्य और गुण जुदा नहीं है ऐसा स्वरूप होता है।

भावार्थ - द्रव्य के बिना गुण तथा गुण के बिना द्रव्य नहीं पाया जाता इसलिए द्रव्य और गुण के बीच अव्यतिरिक्त भाव रहता है अर्थात् उन दोनों की सत्ता अभिन्न है।

द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीनों में सत्ताभेद या प्रदेशभेद नहीं है। अतः पर्याय द्रव्य एवं गुण से तन्मय होती है। इसलिये यदि पर्याय अशुद्ध है तो उस पर्याय का अधिकरणभूत द्रव्य या गुण भी अशुद्ध ही होगा। वस्तुतः उस द्रव्य या गुण का परिणमन ही तो पर्याय है।

मात्र पर्याय ही अशुद्ध है ऐसा कहना ठीक नहीं है बल्कि द्रव्य और गुण भी अशुद्ध है अतः पर्याय की ओर दृष्टिपात न करते हुये द्रव्य और गुण को माँजने का प्रयास करो।

आत्मा और धर्म

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो॥ ३२॥

प्रवचनसार १-८

लो द्रव्य जो बदलता जिस भाव में है, तद्रूप-तन्मय बना उस काल में है।
सो आत्मा धरम में रत धर्म माना, जानों अतः कह रहा निज धर्म बाना॥

अन्वयार्थ - (**जेण**) जिस समय (**दव्वं परिणमदि**) जिस स्वभाव से द्रव्य परिणमन करता है। (**तक्कालं तम्मय**) उस समय उसी स्वभावमय द्रव्य हो जाता है (**त्ति पण्णत्तं**) ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (**तम्हा**) इसलिये (**धम्मपरिणदो आदा**) धर्म परिणत आत्मा को (**धम्मो मुणेदव्वो**) धर्म समझना चाहिये।

अर्थ - जिस समय जिस स्वभाव से द्रव्य परिणमन करता है। उस समय उसी स्वभावमय द्रव्य हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है इसलिये धर्म परिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिये।

भावार्थ - जिस समय जिस स्वभाव से द्रव्य परिणमन करता है, उस समय उसी स्वभावमय द्रव्य हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है जैसे लोहे का गोला जब आग में डाला जाता है, तब उष्ण रूप होकर परिणमता है, अर्थात् उष्णपने से तन्मय हो जाता है, इसी तरह यह आत्मा जब शुभ, अशुभ, शुद्ध भावों में से जिस भाव रूप परिणमता है, तब उस भाव से उसी स्वरूप होता है । धर्म दो प्रकार का है निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म । निश्चय शुद्ध आत्मा की परिणति रूप निश्चय धर्म होता है और पंचपरमेष्ठी आदि की भक्ति परिणाम रूप व्यवहार धर्म होता है। इन दोनों धर्मों से परिणत आत्मा का धर्म जानना चाहिये ।

जिस द्रव्य से अशुद्ध पर्यायें निकल रही हैं वह द्रव्य अशुद्ध ही है क्योंकि ऐसा कभी नहीं हो सकता कि द्रव्य का परिणमन तो शुद्ध हो और उसके परिणाम पर्यायें अशुद्ध निकलें।

शुभोपयोगरूप / शुद्धोपयोगरूप धर्म का फल

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं॥ ३३॥

प्रवचनसार १-११

शुद्धोपयोग जब निज उर में जगाता,धर्माभिभूत मुनि जो शिव-सौख्य पाता।
किंवा कभी शुभमयी उपयोग पाता,धर्माभिभूत मुनि भी सुरसौख्य पाता॥

अन्वयार्थ - (**धम्मेण परिणदप्पा**) धर्म से परिणमित स्वरूप वाला (**अप्पा**) आत्मा (**जदि**) यदि (**सुद्ध संपयोगजुदो**) शुद्धोपयोग में युक्त हो तो (**णिव्वाणसुहं**) निर्वाण सुख को (**पावदि**) प्राप्त करता है (**व**) और (**सुहोवजुत्तो**) शुभोपयोग में युक्त हो तो (**सग्गसुहं**) स्वर्ग सुख (**पावदि**) प्राप्त करता है।

अर्थ - धर्म से परिणमित स्वरूप वाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो निर्वाण सुख को प्राप्त करता है और शुभोपयोग में युक्त हो तो स्वर्ग सुख प्राप्त करता है।

भावार्थ - धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त होता है तो वह अप्रतिहत शक्ति से अपने कार्य को सम्पन्न करने वाले वीतराग चारित्र रूप होने से साक्षात् मोक्षसुख को प्राप्त करता है। परन्तु यदि वही धर्म परिणत आत्मा जब शुभोपयोग से युक्त होता है तो अपने कार्य को पूर्णरूप से सम्पन्न करने में असमर्थ सरागचारित्र रूप होने से पहले तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है पश्चात् परम्परा से परमसमाधि के योग्य सामग्री मिलने पर मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह हुआ कि शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग से परिणत आत्मा धर्म से सम्पन्न कहा जाता है। सराग सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोगरूपी धर्म होता है जबकि वीतराग सम्यग्दृष्टि के शुद्धोपयोगरूप धर्म होता है।

पढ़ाने का उद्देश्य मात्र विद्वता की प्रस्तुति ही नहीं अपितु सामने वाले का तत्त्व के प्रति समर्पण भाव लाना ही सही अध्यापन।

श्रमण के प्रकार तथा उनकी चर्या

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा॥ ३४॥

प्रवचनसार ३-४५

शुद्धोपयोग युत और शुभोपयोगी, सिद्धान्त में श्रमण दो, तज भोग भोगी।
सो एक है रहित आस्रव से सुहाता, औ शेष हैं सहित आस्रव से कहाता॥

अन्वयार्थ - (**समयम्हि**) परमागम में (**सुद्धुवजुत्ता**) शुद्धोपयोग से युक्त (**य**) और (**सुहोवजुत्ता**) शुभोपयोग से युक्त, इस प्रकार दो तरह के (**समणा**) श्रमण (**होंति**) होते हैं (**तेसुवि**) उन दोनों तरह के मुनियों में (**सुद्धुवजुत्ता**) शुद्धोपयोग से युक्त (**अणासवा**) आस्रव से रहित हैं (**सेसा**) शेष शुभोपयोगी मुनि (**सासवा**) आस्रव से सहित हैं।

अर्थ - परमागम में शुद्धोपयोग से युक्त और शुभोपयोग से युक्त, इस प्रकार दो तरह के श्रमण होते हैं उन दोनों तरह के मुनियों में शुद्धोपयोग से युक्त आस्रव से रहित हैं शेष शुभोपयोगी मुनि आस्रव से सहित हैं।

भावार्थ - आगम में श्रमण दो तरह से कहे गये हैं-शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी। इनमें से शुद्धोपयोगी श्रमण तो समस्त कषायों से रहित होने से निरास्रव होते हैं जबकि शुभोपयोगी श्रमण धर्म परिणत होते हुए भी कषाय-कण के रहने से आस्रव सहित होते हैं। जैसा कि अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी टीका में उल्लेख किया है कि जो जीव यति परिणति की प्रतिज्ञा करके भी कषाय के अंश के उदय से सब पर द्रव्यों से निवृत्त होकर भी निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव कर आत्म तत्त्व की प्रवृत्ति रूप शुद्धोपयोग भूमिका के ऊपर चढ़ने को असमर्थ है, शुद्धोपयोगी महामुनि के समीपवर्ती हैं, और जिनकी कषाय के उदय से शक्ति क्षीण हो रही है, जिनका मन चंचल हो रहा है, ऐसे शुभोपयोगी मुनि, हो सकते हैं कि नहीं ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है इसका उत्तर यह है कि धम्मेण परिणदप्पा प्रथम अधिकार की ११ वीं गाथा में कहा गया है कि शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है । एकार्थ समवाय उसे कहते हैं कि जहाँ आत्मा में ज्ञान दर्शन परिणति है और राग परिणति भी है इस तरह एक आत्म पदार्थ में दोनों का समवाय है। इस कारण शुभोपयोगी के भी धर्म का अस्तित्व है, इसलिए शुभोपयोगी भी परमागम में मुनि कहे हैं। परन्तु इतना विशेष है कि शुभोपयोगी शुद्धोपयोगी की दशा में समानता नहीं है, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों से रहित है, निरास्रव है और शुभोपयोगी कषाय अंश से रहित नहीं है इसके कषाय का अंश जीवित है, सास्रव है। इसलिये शुद्धोपयोगी के बराबर नहीं,जघन्य है।

शुद्धोपयोग परिणत आत्मा का स्वरूप

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥ ३५॥

प्रवचनसार १-१४

तत्त्वार्थ को समझते सब संग त्यागी, हो संयमी तप धरे बनके विरागी।
दुःखों सुखों,श्रमण हो समता रखेगा,शुद्धोपयोग तब जीवन में दिखेगा।।

अन्वयार्थ - (**सुविदिद पयत्थ सुत्तो**) अच्छी तरह जान लिया है पदार्थ और सूत्र को जिन्होंने (**संजम तव संजुदो**) संयम और तप से युक्त हैं (**विगद रागो**) वीत गया है राग जिनका, वीतराग। (**समसुहदुक्खो**) जिन्हें सुख-दुःख समान हैं, (**समणो**) ऐसे श्रमण को (**सुद्धोवओगो त्ति भणिदो**) शुद्धोपयोगी कहा गया है।

अर्थ - अच्छी तरह जान लिया है पदार्थ और सूत्र को जिन्होंने संयम और तप से युक्त हैं वीत गया है राग जिनका, वीतराग। जिन्हें सुख-दुःख समान हैं, ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

भावार्थ - जिसने आत्मादि पदार्थों के प्रतिपादक सूत्र को अच्छी तरह से जान लिया है, जो संयम और तप से सहित है, वीतरागी है और सुख-दुःख में हर्ष-विषाद रहित समताशील है वह श्रमण ही शुद्धोपयोगी है ।

इस गाथा से स्पष्ट है कि सप्तम गुणस्थान से नीचे वीतराग चारित्र के अभाव में शुद्धोपयोग नहीं होता। अतएव चतुर्थ आदि प्राथमिक गुणस्थानों में शुद्धोपयोग मानना उचित नहीं है।

जैन दर्शन वकालत नहीं करता अपितु जो वकालत करने के लिये विविध तर्कों से लैस (तैयार) होकर संघर्ष की मुद्रा में वकील आते है उन्हें साम्य भाव से सुनकर सही-सही जजमेंट देता है, निष्पक्ष होकर निर्णय देता है।

श्रमण की चर्या

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठ कंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥ ३६॥

प्रवचनसार ३-४१

निन्दा स्तुती कनक काठ सुबन्धु वैरी, दुसह्य-दुःख सुख जीवन-मृत्यु वैरी।
सारे समा श्रमण को यह सन्त गाथा, ऐसा बसन्ततिलका यह छन्द गाता॥

अन्वयार्थ - (**समसत्तुबंधुवग्गो**) जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान हैं, (**समसुहदुक्खो**) सुख और दुःख समान हैं, (**पसंसणिंदसमो**) प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसकी समता है। (**समलोट्ठकंचणो**) जिसे पाषाण और सोना समान है (**पुण**) तथा (**जीविदमरणे**) जीवन-मरण के प्रति (**समो**) समता है वह (**समणो**) श्रमण है।

अर्थ -जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान हैं, सुख और दुःख समान हैं, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसकी समता है। जिसे पाषाण और सोना समान है तथा जीवन-मरण के प्रति समता है वह श्रमण है।

भावार्थ - समता भाव में जो लीन महामुनि है वह शत्रु और बंधुवर्ग में, सुख और दुःख में, प्रशंसा और निन्दा-दोष कथन इन दोनों में समान है कनक (स्वर्ण) तथा पाषाण में एवं जीवन और मरण में समान भाव वाला होता है वही श्रमण है।

सभी क्षेत्रों में सभी प्रकार की नीतियाँ होती हैं, जो समय-समय पर नष्ट होती रहती हैं, बदलती रहती हैं लेकिन आत्मनीति एक ऐसी नीति है, जो कभी नष्ट न हुई है न होगी।

शुभोपयोग का स्वरूप

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥ ३७॥

प्रवचनसार २-६५

सिद्धों तथा जिनवरों मुनि नायकों में, श्रद्धान गाढ़ रखता गुरुसाधुओं में।
जो प्राणियों पर दया रखता दयाला, मानो वही शुभमयी उपयोग वाला॥

अन्वयार्थ - (**जो जिणिंदे जाणादि**) जो जिनेन्द्र को जानता है (**सिद्धे तहेव अणगारे**) सिद्धों तथा अनगारों को (आचार्य, उपाध्याय और साधु को) (**पेच्छदि**) देखता है अर्थात् श्रद्धा करता है, (**जीवेसु साणुकंपो**) जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है (**तस्स**) उसके (**सो**) वह (**सुहो उवओगो**) शुभोपयोग है।

अर्थ - जो जिनेन्द्र को जानता है सिद्धों तथा अनगारों को (आचार्य, उपाध्याय और साधु) को देखता है अर्थात् श्रद्धा करता है, जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है उसके वह शुभोपयोग है।

भावार्थ - जो उपयोग, अठारह दोषों से रहित तथा अनंतज्ञानादिचतुष्टय एवं चौंतीस अतिशयों से सहित परमभट्टारकदेवाधिदेव अरहंत भगवान् को जानता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित सिद्ध भगवान् को देखता है एवं उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी की आराधना करता है और समस्त जीवों के प्रति अनुकम्पा रखता है, वह उपयोग शुभोपयोग है।

यह शुभोपयोग दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक भाव है न कि औदयिक भाव। आगम में क्षायोपशमिक भाव को मोक्ष का हेतु कहा गया है, जैसा कि निम्न कारिकाओं में स्पष्ट है-

(१) ओदइया बंधयरा उवसमखयमिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जियो होंति।
धवल पुस्तक ७, पृ. ९, जयधवल पुस्तक १, पृ. ५

(२) मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।

बन्धमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः।। स.सा. ,ता.वृ.पृ.३७४

अर्थात् औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव मोक्ष को करते हैं तथा औदयिक भाव बन्ध के हेतु हैं जबकि पारिणामिक भाव बंध और मोक्ष के कारणों से रहित निष्क्रिय हैं।

अतः शुभोपयोग को औदयिक भाव मानकर केवल बंध का हेतु बतलाना आगम को सही रूप में नहीं समझना है। शुभोपयोग क्षायोपशमिक भाव होने के कारण संवर और निर्जरा का हेतु है जैसा कि आचार्य वीरसेन स्वामी ने ग्रंथराज ''कषायपाहुड'' परमागम की जयधवला टीका भाग १ पृष्ठ ५ में भी कहा है- ''सुह-सुद्ध परणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।'' अर्थात् यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय होना न माना जाये तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है।

सर्वप्रथम अमृतचन्द्रसूरि ने ही अपनी टीका में शुभोपयोग को क्षायोपशमिक भाव माना है। यथा-विशिष्टक्षयोपशमदशा-विश्रान्त-चारित्रमोहनीय पुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीत शोभनोपरागत्वात् परमभट्टारक महादेवाधिदेव परमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः।

अर्थात् - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म की विशिष्ट क्षयोपशम दशा होने पर ग्रहण किये गये शुभराग से परमभट्टारक देवाधिदेव अर्हंत् परमेष्ठी, सिद्धपरमेष्ठी, साधुपरमेष्ठी तथा समस्त जीव समूहों में अनुकम्पारूप आचरण होना शुभोपयोग है।

इस टीका में यह भी स्पष्ट है कि शुभोपयोग चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ होता है क्योंकि दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीय की विशिष्ट क्षयोपशम दशा वहाँ से ही प्रारम्भ होती है। इसी प्रकार अणुव्रत और महाव्रत भी अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से होने के कारण क्षायोपशमिक भाव हैं। अतः वे बंध के कारण नहीं हो सकते। अतः इनके काल में जो कषायों का उदय है वह ही बंध का कारण है।

शुभोपयोगी श्रावक की चर्या

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरुणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति॥ ३८॥

पंचास्तिकाय १३६

सद्भक्ति हो जिनवरों शिव साधुओं में, सद्धर्म में रुचि रहे सुख साधना में।
श्रद्धा समेत गुरु के अनुकूल होना, माना प्रशस्ततम राग यही करो ना॥

अन्वयार्थ - (**अरहंतसिद्धसाहुसु**)अरिहंत, सिद्ध और साधु इन तीन पदों में जो (**भत्ती**) स्तुति-वंदनादिक (**य**) और (**जा**) जो (**धम्मम्मि**) अरहंत प्रणीत धर्म में (**खलु**) निश्चय से (**चेट्ठा**) प्रवृत्ति, (**गुरुणं**) धर्माचरण के उपदेशक आचार्यादिकों का (**अणुगमणं पि**) भक्ति भाव सहित उनके पीछे होकर चलना, (**त्ति**) इस प्रकार महापुरुष (**पसत्थरागो**) प्रशस्तराग (**वुच्चंति**) कहते हैं।

अर्थ -अरहंत, सिद्ध और साधु परमेष्ठी में भक्ति होना, धर्म में प्रवृत्ति होना तथा (वीतरागी) गुरुओं के अनुकूल चलना, यह प्रशस्तराग या शुभोपयोग है ।

भावार्थ - अरिहंत, सिद्ध और साधु इन तीन पदों में जो स्तुति-वंदनादिक करना है, अरहंत प्रणीत धर्म में निश्चय से प्रवृत्ति, धर्माचरण के उपदेष्टा आचार्यादिकों का भक्ति भाव सहित उनके पीछे होकर चलना अर्थात् उनकी आज्ञानुसार चलने को भी प्रशस्त राग या शुभोपयोग, पूर्व महर्षिजन कहते हैं।

आत्मानुशासन के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है एक मात्र अपनी कषायों पर कुठाराघात करने की।

शुभोपयोगी श्रमण की चर्या

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य॥३९॥

प्रवचनसार ३-४८

दीक्षा दिला भविकको पथ में लगाना, सम्यक्त्वबोध गुण क्या उनको जताना।
सागार धर्म जिन-पूजन है बताना, ऐसा सराग मुनि का यह धर्म माना॥

अन्वयार्थ - (**दंसणणाणुवदेसो**) दर्शनज्ञान का उपदेश (**सिस्सग्गहणं**) शिष्यों का ग्रहण (**च**) तथा (**तेसिं पोसणं**) उनका पोषण (**च**) और (**जिणिंद पूजोवदेसो**) जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश (**हि**) वास्तव में (**सरागाणं**) शुभोपयोगी मुनियों की (**चरिया**) चर्या (क्रिया) है।

अर्थ - दर्शनज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण तथा उनका पोषण और जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश वास्तव में शुभोपयोगी मुनियों की चर्या है।

भावार्थ - दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, रत्नत्रय की आराधना करने के इच्छुक मुमुक्षुओं को दीक्षा प्रदान करना तथा उन्हें उनकी आवश्यक क्रियाओं (चर्या) आदि के शिक्षण के माध्यम से उनका पोषण करना तथा श्रावकों को भगवान् की पूजा आदि करने का उपेदश देना, यह सब शुभोपयोगी श्रमणों की प्रवृत्ति है। यहाँ शिष्य ग्रहण और पोषण रूप जो कार्य बतलाया गया है, वह केवल आचार्यों की अपेक्षा से ही है क्योंकि आचार्यों के द्वारा ही दीक्षा प्रदान करने का विधान है।

संसारी प्राणी शासन चलाना चाहता है स्वयं अनुशासित होना नहीं चाहता, लेकिन जब भगवान् ने स्वयं अपने आपको अनुशासित किया तभी उनको सारे भक्त लोग शासक मानकर पूजने लगे।

शुभोपयोगी श्रावक / श्रमण चर्या का फल

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥४०॥

प्रवचनसार ३-५४

रागात्मिका श्रमण श्रावक धर्म चर्या, मानी गई शुभ-करी श्रुत-मध्य चर्चा।
सागार को शिव मिले क्रमशः इसी से, सर्वोत्तमा यह रही सुनलो सही से॥

अन्वयार्थ - (**एसा**) यह (**पसत्थभूदा**) शुभरागरूप (**चरिया**) आचार प्रवृत्ति (**समणाणं**) श्रमणों के (गौण) होती है (**वा पुणो घरत्थाणं**) और गृहस्थों के तो (**परा**) मुख्य होती है (**त्ति भणिदा**) ऐसा परमागम में कहा गया है (**ता एव**) उसी से (**परं सोक्खं लहदि**) गृहस्थ परम सुख को परम्परा से प्राप्त करता है।

अर्थ - यह शुभरागरूप आचार प्रवृत्ति श्रमणों के (गौण) होती है और गृहस्थों के तो मुख्य होती है ऐसा परमागम में कहा गया है उसी से गृहस्थ परम सुख को परम्परा से प्राप्त करता है।

भावार्थ - यह प्रशस्त रागरूप चर्या श्रमणों के गौणरूप से और श्रावकों के मुख्यरूप से होती है। इसी शुभराग रूप चर्या के माध्यम से श्रावक परम्परा से मोक्षरूपी परमसुख को प्राप्त करता है।

यह शुभोपयोग रूप सराग चर्या उन श्रमणों के गौणरूप से अर्थात् मुख्यतः उपदेश रूप से होती है जिन्होंने शुद्धात्मा को प्रकाशित करने वाले महाव्रतों को ग्रहण कर लिया है लेकिन जिनके कषायकण के सद्भाव होने से शुद्धात्मा में प्रवृत्ति नहीं हो पा रही है। यही शुभोपयोग रूप चर्या, श्रावकों के मुख्यरूप से अर्थात् प्रवृत्ति रूप से होती है क्योंकि शुद्धात्मा के प्रकाश में साधनभूत समस्त विरति के अभाव होने से एवं कषाय के सद्भाव होने से उन्हें राग से संयुक्त अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव होता है। अतः यह शुभोपयोग चर्या ही उन्हें महाव्रतों को ग्रहण कराने में तथा सम्पूर्ण राग को हटाने में साधनभूत होने के कारण परम्परा से मोक्षरूपी परमसुख को प्राप्त कराती है।

अशुभोपयोग स्वरूप कथन

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥४१॥

प्रवचनसार २-६६

दुर्ध्यान दुष्टजन संगति में पड़ा हो, दुःशास्त्र को सुन हठाग्रह से अड़ा हो।
उन्मार्ग पे विचरता अति उग्र होता, दुष्टात्म का अशुभ ही उपयोग होता॥

अन्वयार्थ-(**जस्सउवओगो**) जिसका उपयोग (**विसय कसाओ गाढो**) विषय कषाय में अवगाढ़ है (**दुस्सुदि दुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो**) कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है (**उग्गो**) हिंसादि आचरण के करने में महा उद्यमी है और (**उम्मग्ग परो**) वीतराग सर्वज्ञ कथित मार्ग से उलटा जो मिथ्यामार्ग उसमें तत्पर है (**सो असुहो**) उसका वह अशुभोपयोग है।

अर्थ- जिसका उपयोग विषय कषाय में अवगाढ़ है कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है। हिंसादि आचरण के करने में महा उद्यमी है, और वीतराग सर्वज्ञ कथित मार्ग से उल्टा जो मिथ्यामार्ग उसमें तत्पर है, उसका वह अशुभोपयोग है।

भावार्थ - जो उपयोग विषय-कषायों में आकण्ठ डूबा हुआ है, जो मिथ्या शास्त्रों में, आर्त्त-रौद्र रूप खोटे ध्यानों में तथा शील रहित पुरुषों की संगति में प्रवृत्त है, पापाचरण में उग्र है तथा उन्मार्ग में तत्पर है, वह अशुभोपयोग है।

यह अशुभोपयोग दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय कर्म के विशिष्ट उदय के होने पर होता है, जैसा कि अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी टीका में भी कहा है-जब इस जीव के दर्शनमोह तथा चारित्रमोह का तीव्र उदय होता है, तब वह अशुभ राग के ग्रहण करने से पंचपरमेष्ठी में रूचि नहीं करता, मिथ्यामार्ग का श्रद्धानी होकर विषयकषायों में प्रवर्तता है, मिथ्या सिद्धान्तशास्त्रों को सुनता है, खोटे आचरण करता है, इत्यादि पाप क्रियाओं में लीन होता है, इसी से वह जीव अशुभोपयोगी कहा जाता है ।

त्रिविध उपयोग का फल

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो॥ ४२॥

बारसाणुवेक्खा ४२

स्वर्गीय मर्त्य सुख हो शुभ हो सुनो रे, शुद्धोपयोग बल से शिव हो गुणो रे।
पाताल हो अशुभ से पशु या विचारो,यों लोकचिंतन करो अघ को बिसारो।।

अन्वयार्थ - जीव (**असुहेण**) अशुभभाव से (**णिरयतिरियं**) नरक और तिर्यञ्च गति प्राप्त करता है (**सुह उवजोगेण**) शुभ उपयोग से (**दिविजणर-सोक्खं**) स्वर्ग और मनुष्य गति के सुख प्राप्त करता है और (**सुद्धेण**) शुद्ध उपयोग से (**सिद्धिं लहइ**) मोक्ष प्राप्त करता है (**एवं लोयं**) इस प्रकार लोक का (**विचिंतिज्जो**) चिन्तन करना चाहिये।

अर्थ - जीव अशुभभाव से नरक और तिर्यञ्च गति प्राप्त करता है। शुभ उपयोग से स्वर्ग और मनुष्य गति के सुख प्राप्त करता है और शुद्ध उपयोग से मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार लोक का चिन्तन करना चाहिये।

भावार्थ - अशुभोपयोग से यह जीव नरक और तिर्यञ्च गति के दुःखों को प्राप्त करता है तथा शुभोपयोग से स्वर्ग एवं मनुष्यगति के सुखों को प्राप्त करता है जबकि इन दोनों से भिन्न शुद्धोपयोग से मोक्ष सुख की साक्षात् प्राप्ति होती है। इस तरह से लोक का चिन्तन करना चाहिये।

राजकीय दण्ड व्यवस्था तो वह व्यवस्था है जो मात्र आपके शरीर और वचनों पर नियंत्रण करती है किन्तु कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था वह व्यवस्था है जो भावों तक को पकड़ती है। दोनों हाथों में हथकड़ी डाल सकती है तालों में बन्द कर सकती है किन्तु कर्म आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लेते हैं।

उपयोग की प्राप्ति का क्रम

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि॥ ४३॥

बारसाणुवेक्खा ६३

औचित्य है कि शुभयोग विकासपाता, सद्यः स्वतः अशुभयोग विनाश पाता।
शुद्धोपयोग शुभयोगन को नशाता, ऐसा बसंततिलका यह छन्द गाता॥

अन्वयार्थ - (**सुहजोगस्स**) शुभोपयोग की (**पवित्ती**) प्रवृत्ति (**असुहजोगस्स**) अशुभोपयोग का (**संवरणं**) संवर (**कुणदि**) करती है और (**सुद्धुवजोगेण**) शुद्धोपयोग के द्वारा (**सुहजोगस्स**) शुभोपयोग का (**णिरोहो**) निरोध (**संभवदि**) होता है।

अर्थ - शुभोपयोग की प्रवृत्ति अशुभोपयोग का संवर करती है और शुद्धोपयोग के द्वारा शुभोपयोग का निरोध होता है।

भावार्थ - शुभोपयोग में प्रवृत्ति अशुभोपयोग का संवर(निरोध) करती है जबकि शुभोपयोग का निरोध शुद्धोपयोग में प्रवृत्त होने पर हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि अशुभोपयोग को तो बुद्धिपूर्वक छोड़कर शुभोपयोग में प्रवृत्ति की जाती है जबकि शुभोपयोग को छोड़ा नहीं जाता बल्कि जब अप्रमत्त अवस्था में वीतराग चारित्र रूप शुद्धोपयोग में यह आत्मा लीन हो जाता है तो शुभोपयोग स्वमेव छूट जाता है। यह शुद्धोपयोग अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त मात्र तक ही रह सकता है तथा प्रमत्तदशा के आने पर शुभोपयोग में ही प्रवृत्ति करनी होती है।

इस गाथा से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा में एक समय में एक ही उपयोग होता है। जिस समय शुभोपयोग होता है उस समय अशुभोपयोग का निरोध रहता है तथा जब शुभोपयोग है, तो उस समय शुद्धोपयोग भी नहीं हो सकेगा।

।। द्वितीय उपयोग अधिकार समाप्त ।।

तृतीय ज्ञान ज्ञेय अधिकार

आत्मा की सर्वव्यापकता

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगदं॥ ४४॥

प्रवचनसार १-२३

आत्मा नितान्त निजज्ञान प्रमाण होता, तो ज्ञान भी सतत ज्ञेय प्रमाण होता।
है ज्ञेय जो सकल लोकअलोक भाता, सो ज्ञान सर्वगत है फलतःकहाता।।

अन्वयार्थ - (**आदा णाण पमाणं**) आत्मा ज्ञान प्रमाण है (**णाणं**) ज्ञान (**णेयप्पमाणं**) ज्ञेय प्रमाण (**उद्दिट्ठं**) कहा गया है (**णेयं**) ज्ञेय (**लोयालोयं**) लोकालोक है (**तम्हा**) इसलिये (**णाणं तु**) ज्ञान (**सव्वगयं**) सर्वगत - सर्व व्यापक है।

अर्थ - आत्मा ज्ञान प्रमाण है ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा गया है ज्ञेय लोकालोक है इसलिये ज्ञान सर्वगत-सर्व व्यापक है।

भावार्थ -जीव द्रव्य ज्ञान के बराबर है क्योंकि द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों के समान होता है इसी न्याय से जीव भी अपने ज्ञानगुण के बराबर हुआ । आत्मा ज्ञान से न तो अधिक, न कम परिणमन करता है जैसे सोना अपनी कड़े कुंडल आदि पर्यायों तथा पीले वर्ण आदिक गुणों से कम अधिक नहीं परिणमता, उसी प्रकार आत्मा भी समझना और ज्ञान ज्ञेय के (पदार्थों के) प्रमाण है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है जैसे ईंधन में स्थित आग ईंधन के बराबर है उसी तरह सब पदार्थों को जानता हुआ ज्ञान ज्ञेय के प्रमाण है। ज्ञेय है वह लोक और इस लोक से बाहर अकेला आकाश उसको अलोक जानना इन्हीं दोनों को ज्ञेय कहते हैं इसलिए केवलज्ञान तो सब पदार्थों में प्रवेश करने वाला सर्व व्यापक है अर्थात् सबको जानता है इससे ज्ञान ज्ञेय के बराबर है ।

श्रुतज्ञान की सार्थकता

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा॥ ४५॥

प्रवचनसार १-३३

सिद्धान्त के मनन से जिसने निहारा, ज्ञानात्म को सहज निर्मल भाव द्वारा।
है पूर्णभाव श्रुतकेवलि वो निहाला, ऐसा कहें ऋषि करें जग में उजाला॥

अन्वयार्थ - (**जो हि**) जो वास्तव में (**सुदेण**) श्रुतज्ञान के द्वारा (**सहावेण जाणगं**) स्वभाव से ज्ञायक (**अप्पाणं**) आत्मा को (**विजाणदि**) जानता है (**तं**) उसे (**लोयप्पदीवयरा**) लोक के प्रकाशक (**इसिणो**) ऋषीश्वरगण (**सुयकेवलि**) श्रुतकेवली (**भणंति**) कहते हैं।

अर्थ - जो वास्तव में श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ज्ञायक आत्मा को जानता है उसे लोक के प्रकाशक ऋषीश्वरगण श्रुतकेवली कहते हैं।

भावार्थ - जो श्रुतज्ञान के माध्यम से अपनी आत्मा को ज्ञायक स्वभाव रूप मानता है उसे सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञानी श्रुतकेवली कहते हैं।

सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत की सार्थकता तभी है जब उसके माध्यम से निश्चय रत्नत्रय का आराधक वह श्रमण स्वसंवेदनरूप भावश्रुत ज्ञान के बल से अपनी शुद्ध आत्मा की अनुभूति करता है।

ग्रन्थों का पठन-पाठन मात्र ही कल्याणकारी नहीं है, क्योंकि वह तो शब्द ज्ञान ही है जिसे मूढ़ अज्ञ जन भी कर सकते हैं। किन्तु शब्दों से अर्थ तथा अर्थ से परमार्थ की ओर हमारे ज्ञान की यात्रा होनी चाहिये।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।। ४६ ॥

नियमसार १६६

ये केवली नियम से निज को निहारें, ना देखते सकल लोक अलोक सारे।
कोई मनो यदि कहे इस भाँति भाई, क्या दोष दूषण रहा इसमें बुराई॥

अन्वयार्थ - (**केवली भगवं**) केवली भगवान् (**अप्पसरुवं पेच्छदि**) आत्मा के स्वरूप को ही देखते हैं (**लोयालोयं ण**) लोक अलोक को नहीं (**जइ कोई**) यदि कोई (**एवं भणइ**) ऐसा कहता है (**तस्स किं**) उसके कथन में क्या (**दूसणं होइ**) दूषण आता है।

अर्थ - केवली भगवान् अपनी आत्मा के स्वरूप को देखते हैं लोकालोक को नहीं-ऐसा यदि कोई कहता है तो उसके लिए क्या दूषण? अर्थात् कोई भी दूषण नहीं है।

भावार्थ - तेरहवें गुणस्थान में आर्हन्त्य की विभूतिस्वरूप अनंतचतुष्टय से समन्वित केवली भगवान् केवल अपने आत्मस्वरूप को ही देखते हैं, न कि लोक-अलोक को । यदि नय विवक्षा से अनभिज्ञ ऐसा कहते हैं अथवा मानते हैं, उन जैसा मानने वालों के लिये क्या दूषण आता है, सो ही दिखलाते हैं ।

समयसार जीवन का नाम है, चेतन का नाम है और शुद्ध परिणति का नाम है उसमें पर की बात नहीं स्व की बात है।

अध्यात्म प्रेमी कभी बाहर मे किसी से उलझता नहीं और किसी का उलझाता भी नहीं।

जिसने समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार को समझ लिया वास्तव में वही अध्यात्म के रहस्य को समझ सकता है।

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं।
जइ कोई भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ॥ ४७॥

नियमसार १६९

हैं देखते सकल लोक अलोक सारे,ये केवली पर नहीं निज को निहारें।
कोई मनो यदि कहे इस भाँति भाई,क्या दोष दूषण रहा इसमें बुराई॥

अन्वयार्थ - (**केवली भगवं**) केवली भगवान (**लोयालोयं**) लोक अलोक को (**जाणइ**) जानते हैं (**णेव अप्पाणं**) न कि आत्मा को (**जइ कोइ**) यदि कोई (**एवं भणइ**) ऐसा कहता है (**तस्स य किं**) तो उसके क्या (**दूसणं**) दूषण (**होइ**) आता है।

अर्थ - केवली भगवान् लोकालोक को जानते हैं मात्र आत्मा को नहीं। यदि ऐसा कोई कहता है तो उसका क्या दूषण है? अर्थात् कोई भी दूषण नहीं है।

भावार्थ - सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाने से केवली भगवान् लोक-अलोक को जानते हैं, किन्तु आत्मा को नहीं जानते। जिसमें सर्व द्रव्य अवलोकित किये जाते हैं-देखे जाते हैं-वह लोक है, जो लोक नहीं वह अलोक है-केवल आकाश द्रव्य। केवली भगवान् सर्व लोकाकाश अलोकाकाश को जानते हैं, किन्तु अपनी आत्मा को नहीं जानते। ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय से अनभिज्ञ कोई यदि ऐसा कहता है-मानता है या दुराग्रह करता है, उस एकान्तवादी के यहाँ क्या दूषण आता है।

आचार्य देव उसे स्पष्ट कर रहे हैं- ज्ञान जीव का आत्मभूत लक्षण है, वह जीव में हमेशा हर प्रकार से तादात्म्यरूप से ही रहता है, किंतु समवाय से नहीं आता है। इस कारण गुण और गुणी में अभेद होने से यह ज्ञान स्वभावी गुणी आत्मा अपनी आत्मा को भी जानता है, न कि पर पदार्थों को ही। यदि कदाचित् किसी भी पर्याय में यह ज्ञान आत्मा को न जाने, न अनुभव करे, तो वह ज्ञान अपनी आत्मा से भिन्न हो जावेगा, यह बहुत बड़ा दूषण हो जावेगा, इसमें संदेह नहीं है।

आत्मज्ञता तथा सर्वज्ञता

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। ४८ ॥

नियमसार १५९

ये केवली प्रभु सदा व्यवहार नाते, हैं जानते सकल विश्व निहार पाते।
पै केवली नियम से निज को अमानी, हैं जानते निरखते पर को न ज्ञानी॥

अन्वयार्थ - (**ववहारणएण**) व्यवहारनय से (**केवली भगवं**) केवली भगवान (**सव्वं**) सभी को-सर्वजगत को (**जाणदि पस्सदि**) जानते और देखते हैं (**केवलणाणी**) केवलज्ञानी (**णियमेण**) निश्चय से (**अप्पाणं**) अपनी आत्मा को ही (**जाणदि पस्सदि**) जानते देखते हैं।

अर्थ - व्यवहारनय से केवली भगवान् सभी को-सर्वजगत को जानते और देखते हैं केवलज्ञानी निश्चय से अपनी आत्मा को ही जानते देखते हैं।

भावार्थ - व्यवहार नय से केवली भगवान् सब कुछ जानते और देखते हैं जबकि निश्चय नय से केवलज्ञानी आत्मा को जानते देखते हैं।

केवली की सर्वज्ञता व्यवहार नय से है क्योंकि उसमें आत्मा के अलावा अन्य ज्ञेय पदार्थों को भी जाना जा रहा है। उनका यह जानना प्रयासपूर्वक नहीं होता। क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान की यही तो विशेषता है कि वह ज्ञान स्वयं उन ज्ञेयों की ओर नहीं जाता बल्कि समस्त ज्ञेय पदार्थ ही अपने प्रमेयत्व गुण के कारण उसमें प्रतिफलित होते हैं जबकि क्षायोपशमिक ज्ञान को पदार्थ की ओर जाना पड़ता है। अतः केवलज्ञानी का प्रयास सर्वपदार्थों को जानने की ओर न होने से सर्वज्ञता औपचारिक होगी क्योंकि उन ज्ञेय पदार्थों का अनुभव उन केवलज्ञानी (सर्वज्ञ)को नहीं होता जबकि वे ही केवलज्ञानी अपनी आत्मा को जानकर उसका अनुभव भी करते हैं, अतः निश्चय से वह आत्मज्ञ ही हैं।

जो अध्यात्म के धरातल से नीचे खिसक जाता है उसे अध्ययन की आकुलता बढ़ जाती है।

भूतार्थ-अभूतार्थ नय कथन

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥ ४९ ॥

समयसार १३

भूतार्थ शुद्धनय है निज को दिखाता, भूतार्थ है न व्यवहार हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता, सम्यक्त्व मंडित, वही मन मैल धोता॥

अन्वयार्थ - (**ववहारो**) व्यवहार नय (**अभूदत्थो**) अभूतार्थ है (**दु**) और (**सुद्धणओ**) शुद्धनय (**भूदत्थो**) भूतार्थ है - ऐसा (**देसिदो**) ऋषियों ने बताया है। (**जीवो**) जो जीव (**भूदत्थमस्सिदो**) भूतार्थ के आश्रित हैं, (**खलु**) निश्चय ही वह (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**हवदि**) होता है।

अर्थ - व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है-ऐसा ऋषियों ने बताया है। जो जीव भूतार्थ के आश्रित हैं, निश्चय ही वह सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थ - व्यवहारनय अभूतार्थ है क्योंकि वह विशेषता (पर्याय) को दृष्टि में रखकर विषमता को पैदा करने वाला है। पर, शुद्धनय भूतार्थ है क्योंकि वह समता सामान्य (द्रव्य) को अपनाकर एकत्व को लाता है। भूतार्थ या समता को अपनाने वाला जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है।

व्यवहारनय भेद-रत्नत्रय को लेकर चलता है जबकि निश्चयनय अभेदरत्नत्रय को स्वीकार करता है। जिस श्रमण का भेद रत्नत्रय, अभेद रूप में ढल जाता है, वही वास्तव में भूतार्थ शुद्ध नय का आश्रय लेने वाला सम्यग्दृष्टि है क्योंकि उस अवस्था में वह अभेदरत्नत्रय ही दर्शनरूप होता है, वही ज्ञानरूप है और वही चारित्र रूप है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड़ सहित तालाब आदि का जल पी लेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमें कतकफल-निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है उसी प्रकार स्वसंवेदनज्ञानरूप भेद-भावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है, किन्तु जो सम्यग्दृष्टि संयत मनुष्य होता है वह तो अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पसमाधि के बल से कतक स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्ध-आत्मा का अनुभव करता है।

द्विविध नय के उपदेश के पात्र

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदाभावे॥ ५०॥

समयसार १४

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी, जीवे विशुद्ध-नय आश्रय ले विरागी।
शुद्धात्म से च्युत सराग चरित्र वाले,भूले न 'लक्ष्य' व्यवहार अभी संभाले॥

अन्वयार्थ - (**परमभावदरिसीहिं**) परमभाव - शुद्धात्मभाव को देखने वालों के द्वारा (**सुद्धादेसो**) शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला (**सुद्धो**) शुद्धनय (**णादव्वो**) जानने योग्य है, (**पुण**) और (**जे दु**) जो जीव (**अपरमे भावे**) अशुद्धभाव में (**ठिदा**) स्थित है, (**ववहारदेसिदो**) उनके लिये व्यवहारनय का उपदेश किया गया है।

अर्थ - परमभाव-शुद्धात्मभाव को देखने वालों के द्वारा शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय-निश्चयनय जानने योग्य है, और जो जीव अशुद्धभाव में-श्रावक की अपेक्षा शुभोपयोग में एवं प्रमत्त-अप्रमत्त की अपेक्षा भेद रत्नत्रय में स्थित है, उनके लिये व्यवहारनय का उपदेश किया गया है।

भावार्थ - शुद्धात्मभाव के दर्शन करने वाले जीवों को निश्चयनय ग्रहण करने योग्य है क्योंकि वह शुद्धद्रव्य का कथन करता है लेकिन जो जीव अपरमभाव अर्थात् शुद्धोपयोग से रहित शुभोपयोग आदि रूप अवस्था में स्थित हैं उन्हें व्यवहारनय ही प्रयोजनीय है। प्रारंभिक अवस्था में व्यवहारनय से प्राप्त किया गया भेदरत्नत्रय ही जब अभेदरत्नत्रय में ढलता है तो शुद्धात्मभाव की प्राप्ति होती है। इसी भूमिका में स्थित आत्मा के आगे विकास के लिए शुद्धनय या निश्चयनय सम्बन्धी उपदेश कार्यकारी है जिसको ग्रहणकर वह राग को समाप्त कर वीतरागता को प्राप्त करता है।

जिस प्रकार दो नयनों के माध्यम से मार्ग का ज्ञान होता है, उसी प्रकार निश्चय एवं व्यवहार इन दोनों नयों के माध्यम से मोक्षमार्ग का ज्ञान होता है।

शुद्धनय का स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ ५१॥

समयसार १६

आत्मा अबद्ध नित शून्य उपाधियों से, अत्यन्त भिन्न पर से विधिबन्धनों से।
ऐसा मुनीश्वर निजातम को निहारें, वे ही 'विशुद्धनय' हैं, जिन यों पुकारें।।

अन्वयार्थ - (**जो**) जो नय (**अप्पाणं**) आत्मा - शुद्धात्मा को (**अबद्धपुट्ठं**) बन्ध से रहित और पर के स्पर्श से रहित (**अणण्णयं**) अन्यत्व-रहित (**णियदं**) चलाचलता-रहित (**अविसेसं**) ज्ञान-दर्शनादि के भेद से रहित (**असंजुत्तं**) अन्य के संयोग से रहित - ऐसे छह भाव रूप (**पस्सदि**) देखता है (तं) उसे (**सुद्धणयं**) शुद्धनय (**वियाणीहि**) जानो।

अर्थ - जो नय आत्मा-शुद्धात्मा को बन्ध से रहित और पर के स्पर्श से रहित अन्यत्व-रहित चलाचलता-रहित ज्ञान-दर्शनादि के भेद से रहित अन्य के संयोग से रहित - ऐसे छह भाव रूप देखता है उसे शुद्धनय जानो।

भावार्थ - जो नय आत्मा को बंध रहित, स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित, चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के संयोग से रहित अवलोकन करता है, वह शुद्धनय है।

जब यह जीव शुद्धोपयोग रूप निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है उस समय वह अपनी आत्मा में होने वाले रागादि भावों को अपना स्वभाव न मानकर केवल कर्म के उदय से होने वाले औपाधिक भाव रूप मानता है। अतः उनके उदय आदि में राग-द्वेष न करते हुए समता को धारण करते हुए ध्यान के माध्यम से उन्हें पूर्णरूप से अपने से अलग कर देता है। यही उसके भेद-ज्ञान की सफलता है। इसी ध्यानरूप रत्नत्रय या अभेद रत्नत्रय में स्थित साधु को शुद्धनय भी कहा जाता है।

नय पक्ष ग्रहण का निषेध

दोण्हवि णयाण भणियं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो॥ ५२॥

समयसार १५०

सर्वज्ञ ज्यों समयसारमयी बने हैं, साक्षी बने सहज दो नय के तने हैं।
त्यों साधु भी न बनता नय पक्षपाती, हो आत्मलीन तजता पररीति जाति॥

अन्वयार्थ - (**दोण्ह वि**) दोनों ही (**णयाण**) नयों के (**भणियं**) कथन को (**णवरि तु**) अपितु केवल (**जाणदि**) जानता है और (**समयपडिबद्धो**) सहज परमानन्द स्वभाव आत्मा का अनुभव करता हुआ (और) (**णयपक्ख - परिहीणो**) समस्त नयपक्षों के विकल्पों से रहित हुआ (**णयपक्खं दु**) किसी भी नयपक्ष को (**किंचि वि**) किंचित्मात्र भी (**ण गिण्हदि**) ग्रहण नहीं करता।

अर्थ - दोनों ही नयों के कथन को अपितु केवल जानता है और सहज परमानन्द स्वभाव आत्मा का अनुभव करता हुआ (और) समस्त नयपक्षों के विकल्पों से रहित हुआ किसी भी नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता।

भावार्थ - जो पुरुष सहज-परमानन्द-स्वरूप-समयसार का अनुभव करने वाला है वह दोनों नयों के कथन को जानता अवश्य है किन्तु किसी भी एक नय के पक्ष को स्वीकार नहीं करता अपितु दोनों नयों के पक्षपात से दूर होकर रहता है।

नय वस्तु-तत्त्व को समझने में साधनभूत हैं। अतः उनके माध्यम से वस्तु स्थिति को जानकर आत्मा को विषय-कषायों से हटाकर व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग में संलग्न करना चाहिये।

जैसे दोनों कूल परस्पर प्रतिकूल होकर भी नदी के लिये अनुकूल है ठीक उसी तरह व्यवहार नय और निश्चय नय एक दूसरे के प्रतिकूल होकर भी आत्मा के प्रमाणरूप ज्ञान के लिये अनुकूल हैं।

स्वसमय-परसमय का लक्षण

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥ ५३॥

समयसार २

जो शुद्ध बोधव्रत दर्शन में समाता, होता निजी समय जीव वही सुहाता।
रागादि का रसिक वो निज को भुलाया, माना गया समय में समया पराया।।

अन्वयार्थ - (**जीवो**) जो जीव (**चरित्तदंसणणाणट्ठिदो**) शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, (**तं**) उसे (**हि**) निश्चय से (**ससमयं**) स्वसमय (**जाण**) जानो। (**च**) और (**पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं**) जो जीव पौद्गलिक कर्म-प्रदेशों में स्थित है, (**तं**) उसको (**परसमयं**) परसमय (**जाण**) जानो।

अर्थ - जो जीव शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, उसे निश्चय से स्वसमय जानो और जो जीव पौद्गलिक कर्म-प्रदेशों में स्थित है, उसको परसमय जानो।

भावार्थ - जो जीव दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र में स्थित है वह स्वसमय है तथा जो जीव पुद्गल कर्मोपदेश में स्थित है वह परसमय है।

जो जीव आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान तथा अनुभूति रूप निश्चय रत्नत्रय रूप से परिणत है वह स्वसमय है तथा जो जीव कर्मोपदेश से होने वाली राग-द्वेष रूप दशाओं में आत्मबुद्धि रख रहा है, वह परसमय है।

सिद्धान्त के अनुसार श्रद्धान बनाओ। तत्त्व को उलट-पलट कर श्रद्धान नहीं करना है। हमें अपने भावों को तत्त्व सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तित करना है, जैसे रेड़ियों में सुई के अनुसार स्टेशन नहीं लगती बल्कि स्टेशन के नम्बर के अनुसार सुई को घुमाने पर ही विविध भारती, सीलोन आदि स्टेशन लगती है।

बहिरात्मा एवं अन्तरात्मा का लक्षण

अंतरबाहिर जप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा॥ ५४॥

नियमसार १५०

जो अंतरंग बहिरंग - प्रजल्प धारी, होता नितान्त बहिरातम है विकारी।
सम्पूर्ण जल्प भर से अति दूर होता, सो अंतरातम रहा सुख पूर होता॥

अन्वयार्थ - (**जो अंतरबाहिर जप्पे**) जो अन्तरंग और बहिरंग (जल्प) वचनों में (**वट्टइ**) प्रवृत्ति करते हैं (**सो बहिरप्पा हवेइ**) वह बहिरात्मा हैं। (**जो जप्पेसु ण वट्टइ**) जो वचनों में प्रवृत्ति नहीं करते हैं, (**सो अंतरंगप्पा**) वे अन्तरात्मा कहे जाते हैं।

अर्थ - जो अन्तरंग और बहिरंग (जल्प) वचनों में प्रवृत्ति करते हैं वह बहिरात्मा हैं। जो वचनों में प्रवृत्ति नहीं करते हैं, वे अन्तरात्मा कहे जाते हैं।

भावार्थ - जो साधु सामायिक, स्तवन और महामंत्र के स्मरण चिन्तन रूप अन्तरंग जल्प में प्रवृत्ति करते हैं तथा प्रतिक्रमण आदि के उच्चारण रूप बाह्य जल्प में प्रवृत्त होते हैं, वे मुनि शुभोपयोग में प्रवृत्त होते हुये, निश्चयनय की अपेक्षा से या शुद्धोपयोग की अपेक्षा से बहिरात्मा होते हैं। इसके अतिरिक्त जो शुद्धात्म तत्त्व में, जल्प प्रवृत्ति को छोड़कर, मन को एकाग्र करते हैं वे क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं। जो छठे गुणस्थानवर्ती मुनि शिष्यों को उपदेश, शिक्षा, दीक्षादि कार्यों के करने में प्रशस्त रूप से अन्तर बाह्य जल्प करते हैं वे मध्यम अन्तरात्मा हैं। यहाँ बहिरात्मा कहने का तात्पर्य निर्विकल्प ध्यान रूप परम समाधि से च्युत होने की अपेक्षा है। ऐसे मुनि को सर्वथा बहिरात्मा नहीं समझना । ऐसे मुनिराज भी आगम के अनुकूल प्रशस्त प्रवृत्ति करते हुये सम्यग्दृष्टि श्रावक और साधुओं द्वारा वन्दनीय हैं।

उदासीन निमित्त को हम अपनी तरफ से जुटा नहीं सकते, उसमें हमारा पुरुषार्थ संभव नहीं किन्तु प्रेरक निमित्त को पुरुषार्थ के बल पर जुटा सकते हैं।

त्रिविध चेतनाओं के स्वामी

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा॥ ५५॥

पंचास्तिकाय ३९

हो मुख्य, कर्म फल चेतन स्थावरों में, हो कर्म, कर्म-फल चेतनता त्रसों में।
वे मुक्त-प्राण दशधा तज जी रहे हैं, पीयूष-ज्ञानमय शाश्वत पी रहे हैं॥

अन्वयार्थ - (**खलु**) निश्चय से (**सव्वे**) समस्त (**थावर काया**) स्थावरकाय जीव हैं वे (**कम्मफलं**) कर्मों के फल को शक्त्यानुसार (**विंदंति**) वेदते हैं। (**हि**) निश्चय करके (**तसा**) त्रस जीव (**कज्जजुदं**) कर्म करते हुये फल भोगते हैं (**पाणित्तं**) दश प्राणों से (**अदिक्कंता**) रहित हैं, (**ते**) वे (**जीवा**) शुद्ध प्रत्यक्षज्ञानी जीव (**णाणं**) ज्ञान को ही (**विंदति**) अनुभवन करते हैं।

अर्थ - निश्चय से समस्त स्थावरकाय जीव हैं वे कर्मों का जो दुख सुख रूप फल शक्त्यानुसार वेदते हैं।[क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के केवल कर्मफल-चेतना ही मुख्य है]। निश्चय करके त्रस जीव कर्म करते हुये फल भोगते हैं वे जीव कर्म-चेतना की मुख्यता सहित जानना और जो जीव दश प्राणों से रहित हैं, वे शुद्ध प्रत्यक्षज्ञानी जीव केवलज्ञान चैतन्य भाव ही को अनुभवन करते हैं। ऐसे जीव ज्ञान चेतना संयुक्त जानना । ये तीन प्रकार के जीव तीन प्रकार की चेतना के धारक जानना।

भावार्थ - पृथ्वीकाय आदि जो पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं वे शुभाशुभ कर्मफल के अनुभवरूप कर्मफल-चेतना का अनुभव करते हैं किन्तु त्रसजीव उसी कर्मफल के अनुभव में विशेष राग-द्वेष रूप कर्मचेतना का अनुभव करते हैं। दस प्रकार के द्रव्य प्राणों से रहित साक्षात् परमानन्द सुखरूप सिद्ध भगवान् ज्ञानचेतना का अनुभवन करते हैं।

अज्ञानी का लक्षण

कम्मे णोकम्महि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥ ५६॥

समयसार २२

हूँ कर्म देहमय ये मुझसे न न्यारे, किंवा शरीर मम है, वसु कर्म सारे।
भाई सदैव रटता जड़ मूढ़ ऐसा, दीखे उसे परम आतम गूढ़ कैसा?॥

अन्वयार्थ - (**जा**) जब तक इस आत्मा की (**कम्मे**) कर्म में - द्रव्यकर्म, भावकर्म में (**णोकम्महि य**) और शरीरादि नोकर्म में (**अहं**) ''यह मैं हूँ'' (**च**) और (**अहकं**) ''मुझमें (**कम्मे णोकम्मं इदि**) कर्म और नोकर्म हैं'' (**एसा खलु बुद्धी**) निश्चय से ऐसी बुद्धि है, (**ताव**) तब तक (**अप्पडिबुद्धो**) वह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी (**हवदि**) होता है।

अर्थ - जब तक इस आत्मा की कर्म में - द्रव्यकर्म, भावकर्म में और शरीरादि नोकर्म में ''यह मैं हूँ'' और ''मुझमें कर्म और नोकर्म हैं'' निश्चय से जिसकी ऐसी बुद्धि है, तब तक वह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी होता है।

भावार्थ - जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में ''मैं कर्म-नोकर्म हूँ तथा ये कर्म-नोकर्म मेरे हैं''- ऐसी प्रतीति होती रहती है, तब तक यह आत्मा स्व-पर भेद विज्ञान के अभाव से अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी है।

सामायिक साधक अकेला होता है क्योंकि वह अपने में होता है और ऐसे समय में उसे अकेला होना भी चाहिये। किन्तु प्रवृत्ति में वह समूह में होता है और उस समय उसे समूह में होना चाहिये। वात्सल्य एवं सरलता के बल पर समूह में रहना आसान हो जाता है।

ज्ञानी-अज्ञानी की पहचान

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥ ५७॥
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो॥ ५८॥

समयसार १९१, १९२

भारी तपा कनक यद्यपि हो तथापि, भाई नहीं कनकता तजता कदापि।
त्यों कर्म के उदय में तप साधु जाता, पै साधुता न तजता सुख आशु पाता॥
ज्ञानी सहर्ष शुचि जीवन नित्य जीता,शुद्धोपयोग-पय को भर -पेट पीता।
रागी, सराग-निज को लखता रहेगा, अज्ञानरूप-तम में भटका फिरेगा॥

अन्वयार्थ - (**जह**) जैसे (**अग्गितवियं पि**) अग्नि में तपाया हुआ भी (**कणयं**) सोना (**तं कणयसहावं**) अपने सुवर्ण - स्वभाव को (**ण परिच्चयदि**) नहीं छोड़ता, (**तह**) उसी प्रकार (**कम्मोदय तविदो**) कर्मोदय से तप्त होता हुआ [तीव्र परीषह और उपसर्ग रूप](**णाणी दु**) ज्ञानी भी (**णाणित्तं**) ज्ञानीपने के स्वभाव को (**ण जहदि**) नहीं छोड़ता है।

(**एवं**) इस प्रकार (**णाणी**) ज्ञानी (**जाणदि**) जानता है और (**अण्णाणतमोच्छण्णो**) अज्ञानरूप अन्धकार से आच्छन्न (**अण्णाणी**) अज्ञानी (**आदसहावं**) आत्म स्वभाव को (**अयाणंतो**) न जानता हुआ (**रागमेव**) राग को ही (**आदं**) आत्मा (**मुणदि**) मानता है।

अर्थ - जैसे अग्नि में तपाया हुआ भी सोना अपने सुवर्ण - स्वभाव को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार कर्मोदय से तप्त होता हुआ [तीव्र परीषह और उपसर्ग रूप] ज्ञानी भी ज्ञानीपने के स्वभाव को नहीं छोड़ता है।

इस प्रकार ज्ञानी जानता है और अज्ञानरूप अन्धकार से आच्छन्न अज्ञानी आत्म स्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।

भावार्थ - जैसे अग्नि से तपाया हुआ भी सोना अपने स्वर्णपने को नहीं

छोड़ता है वैसे ही कर्मोदय के द्वारा सताया हुआ ज्ञानी जीव भी अपने ज्ञानीपने का त्याग नहीं करता है। इस प्रकार ज्ञानी तो अपने आपको जानता ही रहता है किन्तु अज्ञानी तो अज्ञान अंधकार से ढका हुआ होने के कारण अपने आपको नहीं जानता हुआ राग को ही अपना स्वरूप समझता है।

तात्पर्य यह है कि अभेदरत्नत्रय में ढला हुआ वीतराग स्वसंवेदन लक्षण वाला ज्ञानी कर्मोदय से होने वाले तीव्र परीषह एवं उपसर्गों में भी पाण्डव आदि के समान आत्म स्वरूप में ही स्थित बना रहता है।

आँखें हो तो दृश्य समाहित हो सकते हैं लेकिन आँखों के अभाव में दृश्यों के ढेर भी लगा दिये जाये तो कुछ नहीं। क्योंकि जहाँ पर दृश्य हैं और दृष्टि नहीं तो आप सृष्टि का निर्माण भले ही करते चले जाइये, तृप्ति तीन काल में भी मिलने वाली नहीं।

पुण्य से नहीं पुण्य के फल से डरो नियम से मुक्ति पाओगे। क्योंकि पुण्य के फल का भोग आरम्भ आदि के बिना नहीं हो सकता और आरम्भ आदि में हिंसादि पाप होता ही है।

अशुभोपयोग और शुभोपयोग में उतना ही अन्तर है जितना कि संध्या और प्रभात की लाली में। जिसमें संध्या समय की लाली निशा की प्रतीक है, सुलाने वाली है किन्तु प्रभात की लाली ताजगी की प्रतीक है जगाने वाली है।

संवर का स्वामी ज्ञानी ?

अप्पाणमप्पणा रुंधिदूणदो पुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि॥५९॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं॥६०॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमइओ अणण्णमणो।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं॥६१॥

समयसार १९४, १९५, १९६

जो आपको सब शुभाशुभ वृत्तियों से,पूरा बचाकर सुखासुख साधनों से।
सम्यक्त्व बोधव्रत में रुचि से लगाता, है त्याग राग पर का निज गीत गाता॥
वो सर्व संग तज के मुनि हो इसी से, जाने नितान्त-निजमें निज को निजी से।
एकत्व की वह छटा मन को लुभाती, नोकर्म, कर्म तक को सबको भुलाती।।
ऐसा निरन्तर निजातम-तत्त्व ध्यानी, सम्यक्त्व-बोध-व्रत में रत साधु ज्ञानी।
हो, कर्ममुक्त गुणयुक्त सदा लसेगा, लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसेगा॥

अन्वयार्थ - (**अप्पाणं**) आत्मा को (**अप्पणा**) आत्मा के द्वारा (**दो-पुण्णपावजोगेसु**) पुण्य और पाप - इन दोनों शुभाशुभ योगों से (**रुंधिदूण**) रोककर (**दंसणणाणह्मि**) दर्शन और ज्ञान में (**ठिदो**) स्थित हुआ (**य**) और (**अण्णह्मि**) अन्य देह - रागादि में (**इच्छाविरदो**) इच्छा से विरत हुआ तथा (**सव्वसंगमुक्को**) समस्त परिग्रह से रहित हुआ (**जो अप्पा**) जो आत्मा (**अप्पाणं**) आत्मा को (**अप्पणा**) आत्मा के द्वारा (**झायदि**) ध्याता है, (**कम्मं ण वि णोकम्मं**) न कर्म को और न नोकर्म को ध्याता है (**चेदा**) आत्मा (**एयत्तं**) एकत्व का (**चिंतेदि**) चिन्तन करता है।

(**सो**) वह आत्मा (**अप्पाणं**) अपनी आत्मा का (**झायंतो**) ध्यान करता हुआ (**दंसणणाणमइओ**) दर्शन और ज्ञानमय अर्थात् (**अणण्णमणो**) आनन्दमय होता हुआ (**अचिरेण एव**) थोड़े ही काल में (**कम्मणिम्मुक्कं**) कर्मों से रहित (**अप्पाणं**) आत्मा को (**लहदि**) प्राप्त कर लेता है।

अर्थ - आत्मा को आत्मा के द्वारा पुण्य और पाप-इन दोनों शुभाशुभ योगों से रोककर दर्शन और ज्ञान में स्थित हुआ और अन्य देह-रागादि में इच्छा से विरत हुआ तथा समस्त बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से रहित हुआ जो आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है, न कर्म को और न नोकर्म को ध्याता है [ऐसा गुणविशिष्ट] आत्मा एकत्व का चिन्तन-अनुभव करता है।

वह आत्मा अपनी आत्मा का ध्यान करता हुआ दर्शन और ज्ञानमय अर्थात् आनन्दमय होता हुआ थोड़े ही काल में कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ - जो पुरुष पुण्य और पापरूप दोनों प्रकार की क्रियाओं में भटकने वाले अपने मन को अपने आप में रोककर अपने से अन्य देहादि वस्तुओं में होने वाली इच्छा से रहित होता हुआ मात्र दर्शन-ज्ञानमय स्वभाव में स्थित होता है, तथा जो सम्पूर्ण प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ अपने द्वारा अपने आपका ध्यान करता है एवं कर्म-नोकर्म किसी का भी चिन्तवन नहीं करता है, वही एक अपने शुद्धात्मा का ध्यान कर पाता है। इस प्रकार जो सब ओर से अपने मन को हटाकर मात्र अपने दर्शन-ज्ञानमय स्वभाव में रहता है वह जीव शीघ्र ही अपने आपको सम्पूर्ण कर्मों से रहित कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि जो बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह को त्यागकर अपनी आत्मा का ध्यान करता है वही श्रमण निश्चय रत्नत्रय या शुद्धोपयोग रूप निर्विकल्प-समाधि में लीन होता हुआ नवागत कर्मों का संवर करते हुए सभी प्रकार के कर्मों से मुक्ति को प्राप्त करता है।

वह निर्णय सही नहीं है जो व्यवहार की ओर कदम नहीं बढ़ाता और वह व्यवहार भी सही नहीं माना जाता जो निश्चय तक नहीं पहुँच पाता मात्र व्यवहाराभास है।

वीतराग सम्यग्दृष्टि और निर्जरा

उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥ ६२॥

समयसार २०२

धारा विराग दृग जो मुनिधर्म पाके, होते उन्हें विषय कारण निर्जरा के।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से, साधु सुधी न बंधते विधि बंधनों से।।

अन्वयार्थ - (**सम्मदिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि जीव (**इंदियेहिं**) इन्द्रियों के द्वारा (**अचेदणाणं**) अचेतन और (**इदराणं**) चेतन (**दव्वाणं**) द्रव्यों का (**जं**) जो (**उवभोज्जं**) उपभोग (**कुणदि**) करता है, (**तं सव्वं**) वह सब (**णिज्जर-णिमित्तं**) निर्जरा के निमित्त हैं।

अर्थ - सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्यों का जो उपभोग करता है, वह सब निर्जरा के निमित्त हैं।

भावार्थ - वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव अपनी इन्द्रियों द्वारा चेतन तथा उससे भिन्न अचेतन द्रव्यों का जो उपभोग करता है वह सब उसके लिए राग-द्वेष और मोह का अभाव होने के कारण कर्मों की निर्जरा के कारण होते हैं। वस्तुतः इस ग्रन्थ (समयसार) में मुख्यरूप से वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेकर ही कथन किया गया है जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की टीका से भी स्पष्ट है कि- विरागस्य -उपभोगो निजंरायै एव, रागादि भावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्य -द्रव्योपभोगो बन्धनिमित्तमेव स्यात् स एव रागादि भावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निजरा निमित्तमेव स्यात् । एतेन द्रव्यनिर्जरा स्वरूपमावेदितम्।

अर्थात् - विरागी का भोग निर्जरा के लिये ही होता है और मिथ्यादृष्टि के रागादि भावों के सद्भाव से चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग बन्ध के निमित्त ही होता है। और वही उपभोग उन्हीं द्रव्यों का उपभोग रागादि भावों का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि के निर्जरा का निमित्त होता है।

रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता

परमाणुमित्तियं पि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि॥ ६३॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो॥ ६४॥

समयसार २११, २१२

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा, शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा।
होगा विशारद जिनागम में भले ही, आत्मा त्वदीय कुछ औभव में डुले ही॥
आत्मा न आतम-अनातमको लखेगा, सम्यक्त्व पात्र किस भाँति अहो बनेगा।
यों कुन्दकुन्द कहते बन वीतरागी, क्यों व्यर्थ दुःख सहता तज राग रागी।।

अन्वयार्थ - (**हु**) वास्तव में (**जस्स**) जिस जीव के (**रागादीणं तु**) रागादिक का (**परमाणुमित्तियं पि**) परमाणु मात्र भी (**विज्जदे**) विद्यमान है, (**सो तु**) वह जीव (**सव्वागमधरोवि**) सर्वागम का धारक होने पर भी (**अप्पाणयं**) आत्मा को (**णवि जाणदि**) नहीं जानता, (**य**) और

(**अप्पाणं**) आत्मा को (**अयाणंतो**) न जानता हुआ (**सो**) वह (**अणप्पयं अवि**) अनात्मा को भी (**अयाणंतो**) नहीं जानता, अतः (**जीवाजीवे**) जीव और अजीव को (**अयाणंतो**) न जानने वाला (**कह**) किस प्रकार (**सम्मदिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**होदि**) हो सकता है।

अर्थ - वास्तव में जिस जीव के रागादिक का परमाणु मात्र भी विद्यमान है, वह जीव सर्वागम का धारक-ज्ञाता होने पर भी आत्मा को नहीं जानता, और आत्मा को न जानता हुआ वह अनात्मा को भी नहीं जानता, अतः जीव और अजीव को न जानने वाला किस प्रकार सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

भावार्थ - जिसमें रागादिकों का लेशमात्र भी विद्यमान है ऐसा जीव सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग-शास्त्र का पारंगत होकर भी आत्मा को नहीं जान सकता। जब वह आत्मा को नहीं जानता तब फिर वह अन्य (पदार्थों) को भी नहीं जान सकता। इस प्रकार जो आत्मा और पर को नहीं जान सकता, वह जीव और अजीव दोनों को नहीं जानने के कारण सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

ज्ञानी जीव निराकांक्ष होता है

जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कदावि॥ ६५॥

समयसार २१३

संभोग-भाव सब भोग्य पदार्थ भाई, प्रत्येक काल मिटते न यथार्थ थाई।
ज्ञानीमुनीश इस भांति जभी लखेगा,कांक्षा पुनः किसलिये किसकी रखेगा?

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**वेददि**) अनुभव करता है - ऐसा वेदक भाव, (**वेदिज्जदि**) जो अनुभव किया जाता है - ऐसा वेद्यभाव, (**उभयं**) ये दोनों भाव अर्थपर्याय की अपेक्षा (**समये-समये**) समय-समय में (**विणस्सदे**) नष्ट हो जाते हैं (**तं**) ऐसा उन दोनों भावों का (**जाणगो दु णाणी**) जानने वाला ज्ञानी (**उभयं पि**) उन दोनों भावों की (**कदावि**) कदापि (**ण कंखदि**) आकांक्षा नहीं करता।

अर्थ - जो अनुभव करता है - ऐसा वेदक भाव, जो अनुभव किया जाता है - ऐसा वेद्यभाव, ये दोनों भाव अर्थपर्याय की अपेक्षा समय-समय में नष्ट हो जाते हैं ऐसा उन दोनों भावों का जानने वाला ज्ञानी उन दोनों भावों की कदापि आकांक्षा नहीं करता।

भावार्थ - जो रागपूर्वक जानने वाला वेदक भाव है तथा उसके द्वारा जो जाना जाता है (वेद्य) वे दोनों ही समय-समय पर विनष्ट हो जाते हैं। जो इन दोनों में से किसी को भी अंगीकार नहीं करता अपितु ज्ञायकमात्र होकर रहता है, वह ज्ञानी है। प्रत्येक पदार्थ प्रति समय बदल रहा है इसलिए जिस समय किसी भी पदार्थ को भोगने का भाव किया, उसी समय वह भोगा नहीं जाता। इसके अनन्तर क्षण में जब उसे भोगा गया तब वह भोग्य भाव ही नहीं रहा, अपितु वह भाव ही नष्ट हो गया। इस प्रकार की स्थिति को जानने वाला ज्ञानी जीव भोगों की आकांक्षा नहीं करता।

ज्ञानी जीव निराकांक्ष होता है

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी॥ ६६॥

समयसार २२८

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा, भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं, वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं॥

अन्वयार्थ - (**सो**) वह (**उप्पण्णोदयभोगे**) उत्पन्न हुए कर्मोदय का भोग (**तस्स**) ज्ञानी के (**णिच्चं**) सदा ही (**वियोगबुद्धीय**) वियोग बुद्धि से होता है (**य**) और (**णाणी**) ज्ञानी (**अणागदस्स**) आगामी काल के (**उदयस्स**) उदय की (**कंखा**) आकांक्षा (**ण कुव्वदे**) नहीं करता।

अर्थ - वह उत्पन्न हुए कर्मोदय का भोग ज्ञानी के सदा ही वियोग बुद्धि से होता है और ज्ञानी आगामी काल के उदय की आकांक्षा नहीं करता।

भावार्थ - वर्तमानकालिक कर्म के उदय को प्राप्त होने से प्राप्त भोगों को भोगने में ही वियोग (हेय) बुद्धि होने के कारण ज्ञानी जीव आगामी (भविष्यत्) काल में उदय में होने वाले कर्म के भोगने की वांछा कैसे करेगा अर्थात् नहीं करता और उसका भूतकालीन कर्म का भोग तो रहा ही नहीं।

वास्तविक ज्ञानी तो वही है जो वर्तमान में कर्मोदय से प्राप्त होने वाले भोगों में वियोग बुद्धि रख रहा है और आगामी काल में कर्मोदय से प्राप्त होने वाले भोगों की आकांक्षा भी नहीं रखता । इस प्रकार वह किसी भी तरह से कर्मोदय के कारण प्राप्त होने वाले भोगों की इच्छा न रखता हुआ शुद्धात्मसंवित्ति अथवा परमागम की भाषा में वीतराग धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान रूप परिणमन करता हुआ अपने आत्मा की अनुभूति करता है।

जिसे स्वरूप का ज्ञान हो गया है वह समता में आये बिना रह नहीं सकता और कभी भी वह विषमता की ओर पैर नहीं बढ़ायेगा।

पूर्ण निर्जरा के साधन

णागफणीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण।
णागं होदि सुवण्णं धम्मं तं भच्छवाएण॥ ६७॥
कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभावो।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणीहि॥ ६८॥
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमिदव्वो परमजोगीहिं॥ ६९॥

समयसार २३१, २३२, २३३

सिंदूर नागफणि की जड़ ढूँढ़ लाओ, और मूत्र भी हथिनि की उनमें मिलाओ।
ज्यों धोंकनी धुनकती रस प्राप्त होता, सीसा सुवर्ण बनता जब भाग्य होता॥
है अष्ट कर्म मल किट्ट असार सारा, लोहा बना पतित आतम है हमारा।
रागादिकी कलुष कालिख मात्र जानो, सम्यक्त्व बोधव्रत औषध पात्र मानो।।
सद्ध्यान की धधकती अगनी जलाओ,त्यों धोंकनी तपमयी तुम तो चलाओ।
योगी बनो सतत् आतम गीत गालो,ज्योतिर्मयी शुचिमयी निज को बनालो॥

अन्वयार्थ - (**णागफणीए मूलं**) नागफणी, थूहर की जड़, (**णाइणितोएण**) हथिनी का मूत्र (**गब्भणागेण**) गर्भनाग अर्थात् सिन्दूर द्रव्य और नाग अर्थात् सीसा धातु (**णागं**) सीसा को (**भच्छवाएण**) धौंकनी से धुनकने पर (**धम्मं तं**) भाग्य से (**सुवण्णं**) सुवर्ण (**होदि**) बनता है।

(**कम्मं**) द्रव्यकर्म तो (**किट्टं**) कीट (**अह**) और (**रागादी विभावो**) रागादि विभाव परिणाम (भावकर्म) (**कालिमा**) कालिमा हैं (**सम्मत्तणाण चरणं**) सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नाम की (**परमोसहं**) परमौषधि है (**इदि वियाणाहि**) ऐसा जानो।

(**झाणं**) ध्यान (**अग्गी**) अग्नि (**हवेइ**) होता है (**जीवो**) आसन्न भव्य जीव (**लोहं हवेइ**) लोहा होता है (**तवयरणं**) तपश्चरण को (**भत्तली**) धमनी (**समक्खादो**) कहा गया है (**परमजोगीहिं**) परमयोगी के द्वारा (**धमियव्वो**) धमना चाहिये।

अर्थ - नागफणी, थूहर की जड़, हथिनी का मूत्र गर्भनाग अर्थात् सिन्दूर द्रव्य और नाग अर्थात् सीसा धातु सीसा को धौंकनी से धुनकने पर भाग्य से सुवर्ण बनता है। द्रव्यकर्म तो कीट और रागादि विभाव परिणाम (भावकर्म) कालिमा हैं सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नाम की परमौषधि है ऐसा जानो। ध्यान अग्नि होता है आसन्न भव्य जीव लोहा होता है तपश्चरण को धमनी कहा गया है परमयोगी के द्वारा धमना चाहिये।

भावार्थ - जिस प्रकार नागफणी की जड, थूहर की जड़, हथिनी का मूत्र, गर्भनाग-सिन्दूर द्रव्य तथा नाग-सीसाधातु, इन सभी को अग्नि पर धौंकनी के माध्यम से तपाने पर यदि पुण्योदय हो तो वह स्वर्ण बन जाता है उसी प्रकार लोहारूपी आसन्न भव्यजीव को सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप परम औषधि तथा निर्विकल्प समाधि रूप ध्यान की अग्नि के द्वारा परमयोगीजन द्वादश प्रकार के तपश्चरण रूप धमनी में धौंकते हैं। जिस तरह से सीसा स्वर्ण बन जाता है उसी तरह भव्य जीव के सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होकर उसे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

निर्जरा तत्त्व के उपरान्त कोई पुरुषार्थ नहीं रह जाता। मोक्ष तत्त्व अंतिम नहीं है वह तो फल है। मोक्ष, मार्ग नहीं है मार्ग जो कोई भी है वह संवर और निर्जरा ही है। अब यदि मार्ग में ही स्खलन हो गया, विषमता आ गई तो ध्यान रखना वहाँ मोक्ष नहीं किन्तु मोह मिलेगा।

मुनि के नामान्तर

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।७०।।

समयसार १५८

ये केवली समय औ मुनि शुद्धध्यानी, एकार्थ के वचन हैं परमार्थ ज्ञानी।
साधु स्वभाव रत वे निजधाम जाते, आते न लौट भव बीच विराम पाते।।

अन्वयार्थ - (खलु) निश्चय कर (जो) जो (परमट्ठो) परमार्थ रूप जीवात्मा है वह (समओ) समय है (सुद्धो) शुद्ध है, (केवली) केवली है (मुणी) मुनि है (णाणी) ज्ञानी है (तह्मि सहावे) उस परमात्म स्वभाव में (ट्ठिदा) स्थित है (मुणिणो) ऐसे मुनिजन (णिव्वाणं) निर्वाण को (पावंति) प्राप्त करते हैं।

अर्थ - निश्चय से जो परमार्थ रूप जीवात्मा है वह समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है ऐसे उस परमात्म स्वभाव में स्थित मुनिजन निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - निश्चय से परमार्थ-शुद्ध आत्मा, समय-शुद्ध गुण-पर्यायों में परिणमन करने वाला है, शुद्ध-रागादिभाव कर्म से रहित है-स्वरूप होने से शुद्ध है, केवली - केवली चिन्मात्र वस्तु स्वरूप होने से केवली है, मुनि- (लौकिक बातों से दूर होने के कारण) वह परमात्मा ही मुनि है तथा ज्ञानी - विशुद्ध ज्ञान जिसको हो वह ज्ञानी होता है, अतः वह प्रत्यक्ष ज्ञानी परमात्मा भी है। ये एकार्थक हैं। उसी परमात्म स्वभाव में स्थित रहने वाले-तन्मयता रखने वाले वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान में लीन मुनि एवं तपस्वी जन ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

वैयावृत्ति में लगा हुआ वह संयमी श्रमण स्वयं दुर्ध्यान से बचता है और जिसकी वैयावृत्ति करता है उसे भी दुर्ध्यान से बचाता है यानि वैयावृत्ति दुर्ध्यान से बचने और बचाने में निमित्त होती है।

अध्यवसान के नामान्तर

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो॥ ७१॥

समयसार २८९

जो पारिणाम मति अध्यवसाय भाव, विज्ञान बुद्धि व्यवसाय चिती विभाव।
हे भव्य ये वसु जिनोदित शब्द सारे, हैं भिन्नभिन्न, पर आशय एक धारे॥

अन्वयार्थ-(बुद्धी) बुद्धि, (ववसाओवि) व्यवसाय (अज्झवसाणं) अध्यवसान (मदी) मति (विण्णाणं) विज्ञान (चित्तं) चित्त (भावो) भाव (य) और (परिणामो) परिणाम ये (सव्वं) सब (एकट्ठमेव) एक ही हैं। एक ही अर्थ के वाचक हैं।

अर्थ - बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एक ही हैं। एक ही अर्थ के वाचक हैं।

भावार्थ - बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव तथा परिणाम-ये सब नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं। विकल्पात्मक दशा में ये सभी बन्ध के हेतु हैं।

स्व और पर का ज्ञान न होने से जो जीव की निश्चिति होना यह अध्यवसान है। वही बोधन मात्रपन से बुद्धि है ,निश्चय जानन मात्रपन से व्यवसाय है, मनन मात्रपन से मति है, विज्ञप्ति मात्रपन से विज्ञान है, चेतन मात्रपन से चित्त है, चेतन के भवन मात्रपन से भाव है और परिणमन मात्रपन से परिणाम है।

इस प्रकार यहाँ शब्द भेद तो हैं किन्तु अर्थ भेद नहीं है। यदि समभिरूढ़ नय से देखें तो इन सब का अर्थ अध्यवसान ही होता है। जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरन्दर का एक ही देवराज ऐसा अर्थ होता है।

मन यदि चलित-विचलित होता है तो साधक को चाहिये कि वह पूर्व में किये हुये कर्मों को तथा दीक्षा-तिथि को याद रखे, जिससे उपयोग निश्चित ही बदल जाता है और भावों में दृढ़ता आती है।

अभव्य के धर्मसेवन का हेतु

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणोवि फासेदि य।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥ ७२॥

समयसार २९३

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,श्रद्धान गाढ़ रखते रूचि और प्रीति।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना,ना चाहते धरम से विधि को खपाना॥

अन्वयार्थ - (सो) वह अभव्यजीव (भोगणिमित्तं) भोग के निमित्तभूत धर्म की (सद्दहदि य पत्तेदि) श्रद्धा, प्रतीति (रोचेदि) रुचि करता है (तह पुणो वि) तथा पुनः (फासेदि य) उसी का स्पर्श करता है (ण हु कम्मक्खयणिमित्तं) परन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप [धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्श] नहीं करता

अर्थ - वह अभव्यजीव भोग के निमित्तभूत धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि करता है तथा पुनः उसी का स्पर्श करता है परन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप [धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्श] नहीं करता।

भावार्थ - अभव्य जीव अहमिन्द्र, इन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि के भोगों के लिए धर्म के सेवन से ऐसे-ऐसे उत्तम पद प्राप्त हो जायेंगे ऐसा मानकर के पुण्य रूप शुभोपयोग धर्म को श्रद्धान में लेता है। उसको ज्ञानरूप से समझता है, श्रद्धान करके उसकी रुचि करता है तथा उस धर्म का आचरण भी करता है। परन्तु शुद्धात्मा का अनुभव रूप निश्चय धर्म को न श्रद्धान करता न जानता न आचरण करता है। जिससे संसार के कारण कर्मों का क्षय हो। इस प्रकार सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान न होने से उसके श्रद्धान ही नहीं कहा जा सकता ।

प्रतिदिन कम से कम पाँच मिनिट बैठकर ध्यान करो, सोचो जो दिख रहा है सो "मैं नहीं हूँ", किन्तु जो देख रहा है सो "मैं हूँ"।

पढ़ने मात्र से कार्य नहीं

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु।।७३।।

समयसार २९२

एकादशांग श्रुत पा न स्वमें रूची है, श्रद्धान मोक्ष सुख का जिसको नहीं है।
ऐसा अभव्य जन का श्रुतपाठ होता, रे राम! राम ! रटता दिनरात तोता।।

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**अभवियसत्तो**) अभव्यजीव है, वह (**अधीयेज्ज दु**) शास्त्र तो पढ़ता है, किन्तु (**मोक्खं**) मोक्ष का (**असद्दहंतो**) श्रद्धान नहीं करता है (**तु**) तो (**णाणं असद्दहंतस्य**) ज्ञान का श्रद्धान न करने वाले उस अभव्यजीव का (**पाठो**) पाठ (**गुणं**) गुण-लाभ (**ण करेदि**) नहीं करता है।

अर्थ - जो अभव्यजीव है, वह शास्त्र तो पढ़ता है, किन्तु मोक्ष का श्रद्धान नहीं करता है तो ज्ञान का श्रद्धान न करने वाले उस अभव्यजीव का पाठ गुण-लाभ नहीं करता है।

भावार्थ - अभव्यजीव को मोक्षतत्त्व का श्रद्धान नहीं होता है यद्यपि अपनी प्रसिद्धि, पूजा व लाभ के लिए श्रुत का अध्ययन करता है, तो भी शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभवन करने योग्य शुद्धात्मा के स्वरूप को श्रद्धान में नहीं रखने वाले जीव के शास्त्र का अध्ययन करना गुणलाभ नहीं करता। यह अभव्य जीव दर्शन और चरित्र मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय के बिना शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान नहीं कर पाता है। सम्यक्त्व की प्रतिपक्षी प्रकृतियों का उपशम इस अभव्य जीव के नहीं होता क्योंकि इस जीव के अभव्य नामा पारिणामिक भाव का सद्भाव है।

धर्म, दर्शन, सिद्धान्त और अध्यात्म विद्या के उपदेष्टा के रूप में श्रमण संस्कृति में अर्हंत तीर्थंकरों का प्रमुख स्थान है। इन्हीं प्रर्वतकों की परम्परा में आचार्यों की संतति प्रवाहित है जिसने भारतीय सुषुप्त चेतना को समय-समय पर जागृत किया है।

अकालमरण और उसके हेतु

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ।।७४।।
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहि विविहेहिं।।७५।।
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्तं।।७६।।

भावपाहुड २५, २६, २७

संक्लेश वेदन वशात् भय सस्त्र द्वारा, औ रक्त-स्त्राव विष भक्षण शस्त्र द्वारा।
आहारश्वासअवरोधन से तुरन्ता, हो आयु का क्षय कहें अरहन्त सन्ता।।
हा अग्नि से तुम जले जल मध्य डूबे, शीतातिशीत हित से बिन वस्त्र जूझे।
उत्तुंग वृक्ष गिरी पे चढ़के गिरे थे, टूटे तभी कर पगों भय से घिरे थे।।
जाने बिना रस विधि विष सेवने से, अन्याय कार्य कर - क्रूर अनार्य जैसे।
तिर्यंच हो मनुज हो अपमृत्यु पाई, है आपने दुख सहे बहुबार भाई।।

अन्वयार्थ - (**विसवेयण**) विष की वेदना (**रत्तक्खय**) रक्त का क्षय (**भय**) भय (**सत्थग्गहण**) शस्त्र की चोट (**संकिलेसाणं**) संक्लेश (**आहारुस्सासाणं णिरोहणा**) आहार और श्वासोच्छ्वास के निरोध से (**आऊ खिज्जए**) आयु क्षीण हो जाती है।

(**हिम**) बर्फ (**जलण**) अग्नि (**सलिल**) पानी (**गुरुयरपव्वय**) बहुत ऊँचे पर्वत तथा (**तरु**) वृक्षों के ऊपर चढ़ने (**रुहण पडणभंगेहिं**) गिरने के समय होने वाले अङ्ग भङ्ग से तथा (**रस विज्जजोयधारण**) रस-विद्या के योग धारण और (**अणय विविहेहिं पसंगेहि**) अनीति के नाना प्रसङ्गों से (**आऊ खिज्जए**) आयु क्षीण होती है।

(**मित्तं**) हे मित्र (**इयं**) इस प्रकार (**तिरिय मणुय जम्मे**) तिर्यञ्च और मनुष्य जन्म में (**सुइरं**) चिरकाल तक (**बहुवारं**) बहुत बार (**उववज्जिऊण**) उत्पन्न होकर (**अवमिच्चु तिव्वं महादुक्खं**) अपमृत्यु के तीव्र महादुःख को

(पत्तोसि) प्राप्त किया है।

अर्थ - विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण, संक्लेश, आहार निरोध, श्वासोच्छ्वास के निरोध से आयु क्षीण हो जाती है ।

बर्फ, अग्नि, पानी, ऊँचे पर्वत तथा वृक्ष पर चढ़ते समय गिरना, शरीर का भंग, रस-विद्या के प्रयोग और अन्याय के विविध प्रसङ्गों से आयु का क्षय होता है।

हे मित्र! इस प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्यगति में उत्पन्न होकर चिरकाल से अनेक बार अकाल मृत्यु का अत्यन्त तीव्र महा दुःख तूने प्राप्त किया है।

भावार्थ - जहाँ आयु कर्म के निषेक, अपनी निषेक-रचना के स्वाभाविक क्रम को छोड़कर एकदम खिर जाते हैं उसे अकाल मरण कहते हैं। आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होने से पूर्व ही विशेष कारणवश आयुकर्म की उदीरणा होकर क्षय हो जाने को अकालमरण या कदलीघातमरण कहते है। यह अकालमरण उपपाद जन्म वाले देव और नारकियों के, चरमशरीरी मनुष्यों और तिर्यञ्चों के नहीं होता है। कर्मभूमि के अवशिष्ट मनुष्य और तिर्यञ्चों के ही होता है।

आजकल कुछ लोग ऐसा कहने लगे हैं कि केवलज्ञानी के ज्ञान में जीवों की जितनी आयु दिखती है उतनी ही आयु पूरी कर उनका मरण होता है। अतः अकालमरण नाम की कोई चीज ही नहीं है, सबका काल मरण ही होता है। परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अकालमरण की परिभाषा ऊपर दी जा चुकी है, उसके अनुसार जिन जीवों के आयु कर्म के निषेक अपने स्वाभाविक क्रम को छोड़ एक साथ खिरते हैं। उनका अकाल-मरण कहलाता है। केवल-ज्ञान में भी यही बात आती है कि इस जीव की आयु इतनी है परन्तु उसके निषेक अमुक समय में अमुक कारण से एक दम खिर जावेंगे। जिनागम में अपवर्त्यायुष्क और अनपर्त्यायुष्क दोनों प्रकार के जीवों का उल्लेख है, अतः सबको अनपर्त्यायुष्क कहना आगम-सम्मत नहीं है। कोई कोई लोग यह कहते हुए देखे जाते हैं कि निश्चय नय से अकालमरण नहीं है, व्यवहारनस से है, पर वे यह भूल जाते हैं कि निश्चय नय से जीव का न मरण होता है और न जन्म होता है जन्म और मरण दोनों का उल्लेख व्यवहार नय का ही विषय है

अकाल मृत्यु के हेतुभूत कारणों में एक कारण अन्याय/अनीति का आचरण भी है। यह कारण हमारे लिए विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है। हमें ऐसे प्रसंगों से बचना चाहिये क्योंकि अनीति का आचरण करने से द्रव्यप्राणों का व्याघात होकर अकाल मृत्यु का प्रसङ्ग आ सकता है।

ध्यान का फल तथा स्वामी

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स॥ ७७॥

पंचास्तिकाय १५२

सम्पन्न-बोध दृग से पर से न नाता, साधू स्वभाव रत ही शुभध्यान पाता।
सो कर्म निर्जरण हेतु वही कहाता, ऐसा बसन्ततिलका यह छंद गाता॥

अन्वयार्थ - (दंसणणाणसमग्गं) दर्शन, ज्ञान से परिपूर्ण (झाणं) ध्यान (णिज्जरहेदू) निर्जरा का हेतु (जायदि) होता है। यह ध्यान किसके होता है? (सभावसहिदस्स) आत्मीक स्वभाव से सहित (साधुस्स) साधु के होता है। यह ध्यान कैसा है? (णो अण्णदव्वसंजुत्तं) पर द्रव्य सम्बन्ध से रहित है।

अर्थ - दर्शन, ज्ञान से परिपूर्ण ध्यान निर्जरा का हेतु होता है। यह ध्यान किसके होता है? आत्मीक स्वभाव से सहित साधु के होता है। यह ध्यान कैसा है ? पर द्रव्य सम्बन्ध से रहित है।

भावार्थ - जब यह भगवान् भावकर्म मुक्त केवल अवस्था को प्राप्त होता है तब निज-स्वरूप में आत्मीक सुख से तृप्त होता है। इसलिये कर्मजनित सुखदुःख विपाकक्रिया के वेदन से रहित होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के जाने पर अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन से शुद्ध चेतनामयी होता है। इस कारण अतीन्द्रय रस का आस्वादी होकर बाह्य पदार्थों के रस को नहीं भोगता। और वही परमेश्वर अपने शुद्ध स्वरूप में अखंडित चैतन्यस्वरूप में प्रवर्तित होता है। इस कारण कथंचित् प्रकार अपने स्वरूप का ध्यानी भी है अर्थात् परद्रव्यसंयोग से रहित आत्मस्वरूपध्यान नाम को पाता है। इस कारण केवली के भी उपचारमात्र स्वरूप-अनुभवन की अपेक्षा ध्यान कहा जाता है। पूर्व बंधे कर्म अपनी शक्ति की कमी से समय समय खिरते रहते हैं, इस कारण वही ध्यान निर्जरा का कारण है। यह भावमोक्ष रूवरूप जानो।

वर्तमान में प्रत्यक्ष आत्मा का ध्यान सम्भव नही

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं।। ७८।।

समयसार २९२

प्रत्यक्ष ज्ञान बल से जिन केवली हैं, जैसे निजात्म लखते सबसे बली हैं।
साक्षात्कार जिनका बनजाय ऐसा, छदमस्थ होकर कहे बुध कौन वैसा।।

अन्वयार्थ - (**कोविदिदच्छो**) कौन समझदार (**साहू**) साधु (**संपडिकाले**) वर्तमान काल में (**भणिज्ज**) ऐसा कह सकता है कि (**परोक्खणाणे पवट्टं तं**) केवल ज्ञान की अपेक्षा से जो परोक्ष है ऐसा श्रुतज्ञान में प्रवर्तने वाले मैंने (**रुवमिणं**) आत्मा के स्वरूप को (**पच्चक्खमेव दिट्ठं**) प्रत्यक्ष ही देख लिया है।

अर्थ - कौन समझदार साधु वर्तमान काल में ऐसा कह सकता है कि केवलज्ञान की अपेक्षा से जो परोक्ष है ऐसा श्रुतज्ञान में प्रवर्तने वाले मैंने आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष ही देख लिया है क्योंकि इसका साक्षात्कार तो केवलज्ञान में ही होता है।

भावार्थ - परोक्षज्ञान के माध्यम से पदार्थों को जानने वाला वह कौन-सा साधु है जो यह कहे कि मैंने आत्मा को प्रत्यक्ष देखा है?

आत्मा का प्रत्यक्ष तीन प्रकार से होता है। प्रथम, इन्द्रिय प्रत्यक्ष है जो सभी जीवों के होता है। दूसरा, मानसिक प्रत्यक्ष है जो कि परमसमाधि के काल में शुद्धोपयोगी श्रमणों के होता है। ये दोनों ही प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक श्रुतज्ञान के साथ होते हैं। तीसरा प्रत्यक्ष योगीप्रत्यक्ष है जो क्षायिकज्ञान से सम्पन्न केवलज्ञानी के होता है। इनमें से दसूरा मानसिक प्रत्यक्ष यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष ही है किन्तु रागादि विकल्पों से रहित तथा स्वसंवेदनरूप होने के कारण कथंचित् प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। वर्तमानकाल में क्षायोपशमिक ज्ञान होने से मानसिक प्रत्यक्ष के रूप में ही आत्मा का अनुभव किया जा सकता है, योगी प्रत्यक्ष के रूप में नहीं।

शुद्ध आत्मा का स्वरूप

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।५४।।

समयसार ५४

आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, आकार से रहित है सुखका पिटारा।।

अन्वयार्थ - (**अरसं**) जो रस रहित है (**अरूवं**) रूप रहित है (**अगंधं**) गंध रहित है (**अव्वत्तं**) अव्यक्त-इन्द्रियों के अगोचर है, (**चेदणागुणं**) चेतना गुण से युक्त है (**असद्दं**) शब्द रहित है (**अलिंगग्गहणं**) किसी चिह्न या इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता (**अणिद्दिट्ठसंठाणं**) अनिर्दिष्ट संस्थान वाला (**जीवं**) उसे जीव (**जाण**) जानो।

अर्थ - जो रस रहित है रूप रहित है गन्ध रहित है अव्यक्त-इन्द्रियों के अगोचर है, चेतना गुण से युक्त है शब्द रहित है किसी चिह्न या इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता अनिर्दिष्ट संस्थान वाला अर्थात् जिसका आकार बताया नहीं जा सकता उसे जीव जानो।

भावार्थ - शुद्धजीव में न रस है, न रूप है, न गंध है, और न ही वह इन्द्रियों के गोचर है। वह केवल चेतना गुणवाला है तथा वह शब्दरूप भी नहीं है। उसका किसी भी पौद्गलिक चिह्न द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता तथा उसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है।

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने जीव के स्वभाव का कथन किया है जो कि आठ कर्मों से रहित पूर्ण शुद्ध-सिद्ध अवस्था में ही पाया जा सकता है। स्वभाव वह होता है जिसे प्राप्त किया जाता है और जो शाश्वत होता है।

आत्मध्यान के लिये न एयरकण्डीशन की जरूरत है और न किसी कण्डीशन की जरूरत है।

आत्म-ज्ञाता ही जिनशासन का ज्ञाता

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥ ८०॥

समयसार १७

आत्मा अबद्ध स्थिर शून्य उपाधियों से,अत्यन्त भिन्न पर से विधि बन्धनों से।
ऐसा निजात्म लखते मुनि अक्षजेता,सूत्रार्थ का कथक आगम पूर्णवेत्ता॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो भव्यात्मा (**अप्पाणं**) अपनी आत्मा को (**अबद्धपुट्ठं**) अबद्ध और अस्पृष्ट (**अणण्णं**) अनन्य और (**अविसेसं**) अविशेष (**अपदेस**) प्रदेश भेद रहित अखण्ड (**सुत्तमज्झं**) सूत्र के माध्यम से देखता है वह (**सव्वं**) सम्पूर्ण (**जिणसासणं**) जिनशासन को (**पस्सदि**) देखता है, जानता है।

अर्थ - जो भव्यात्मा अपनी आत्मा को अबद्ध और अस्पृष्ट अनन्य और अविशेष प्रदेश भेद रहित अखण्ड सूत्र के माध्यम से देखता है वह सम्पूर्ण जिन शासन को देखता है, जानता है।

भावार्थ - जो मुनि कर्म-बन्ध से रहित एवं पर के स्पर्श से शून्य, अन्यत्व रहित और निराकारज्ञानादि-विशेषणों से रहित आत्मा को देखता, जानता एवं अनुभव करता है, वह सूत्र के मध्य-हृदय का कथन करने में समर्थ ऐसे सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है। ऐसा समझकर समरूत मिथ्यात्व रागादि विभाव-भावों को दूर करके इस शुद्धात्मा की ही भावना करना चाहिये।

साधनामय जीवन बार-बार नहीं मिलता, उन्नति के लिये यह एक स्वर्णिम अवसर है जो इसके मूल्य को समझता है, वह कितनी ही बाधायें, उपसर्ग, परीषह क्यों न आयें उन्हें सहर्ष स्वीकार कर उपने साधना पथ पर आगे बढ़ता है।

आत्मार्थी की भावना

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि॥ ८१॥

समयसार ४३

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग-बोधमयी सुधा से, मैं एक हूँ पृथक् हूँ सबसे सदा से।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी, मेरा नहीं जड़मयी यह देह रूपी॥

अन्वयार्थ - (**अहं**) मैं (**इक्को**) एक हूँ, (**खलु**) निश्चय ही (**सुद्धो**) शुद्ध हूँ (**दंसणणाणमइओ**) दर्शन-ज्ञानमय हूँ, (**सदारूवी**) सदा अरूपी हूँ (**किंचिवि अण्णं**) कोई भी परद्रव्य (**परमाणुमित्तंपि**) परमाणु मात्र भी (**मज्झ**) मेरा (**ण वि अत्थि**) नहीं है।

अर्थ - ज्ञानी आत्मा यह जानता है कि मैं एक हूँ, निश्चय ही शुद्ध हूँ दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ कोई भी परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

भावार्थ - अनादिकाल से देह और आत्मा की एक मान्यता रूप भ्रमात्मक अज्ञानभाव से जो पहले अप्रतिबुद्ध था, किन्तु जिस प्रकार हाथ में रखे हुए सोने को भूल जाता है, या निद्रा में मग्न होकर सो जाता है फिर निद्रा के दूर हटने पर उस स्वर्ण का स्मरण आ जाने से प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही मैं भी परम-गुरु के प्रसाद से प्रतिबुद्ध होकर अब शुद्धात्मा में तल्लीन हो रहा हूँ एंव वीतराग-चेतनामात्र ज्योति स्वरूप हूँ। यद्यपि व्यवहारनय से नरनारकादिरूप पर्यायों से मैं भिन्न हूँ अथवा रागादि विभाव भावों से भिन्न हूँ। केवल दर्शन ज्ञानमय हूँ, निश्चय नय से रूप, रस, गंध और स्पर्श का अभाव होने से मैं सदा ही अमूर्तिक हूँ। इस प्रकार इन पर द्रव्यों में से मेरे पास एक परमाणु मात्र भी नहीं है, जो कि एकत्व रूप से रंजायमान करने वाला होकर या ज्ञेयरूप होकर मेरी आत्मा में मोह उत्पन्न कर सके। क्योंकि मैं तो परम-विशुद्ध-ज्ञान रूप में परिणत हो रहा हूँ, अर्थात् परम समाधि में तत्पर होकर अपने आप में लीन हो रहा हूँ।

राग ही बंध का हेतु

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णे।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज।। ८२।।

समयसार १५७

जो राग में रंग रहा वसुकर्म पता, योगी विराग भवमुक्त बने प्रमाता।
ऐसा जिनेश कहते शिव है विधाता, रागी विराग बन क्यों रति गीत गाता।।

अन्वयार्थ - हे भव्य जीव! (**रत्तो**) रागी (**जीवो**) जीव (**कम्मं**) कर्मों को (**बंधदि**) बाँधता है और (**विरागसंपण्णे**) विरक्त जीव (**मुंचदि**) कर्मों से छूटता है (**एसो**) यह (**जिणोवदेसो**) जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है (**तह्मा**) इसलिये (**कम्मेसु**) कर्मों में (**मा रज्ज**) तू राग मत कर।

अर्थ - हे भव्य जीव रागी जीव कर्मों को बाँधता है और विरक्त जीव कर्मों से छूटता है यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है इसलिये कर्मों में तू राग मत कर।

भावार्थ - रागी जीव कर्मों का बाँधता है परन्तु कर्मों से उत्पन्न होने वाले भावों में वैराग्य को धरने वाला आत्मा कर्मों से छूटता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। भगवान ने कहा है कि पुण्य और पाप दोनों ही प्रकार के कर्म, बन्ध के कारण हैं, न केवल बन्ध ही के कारण हैं परन्तु त्यागने योग्य हैं इसलिये शुभ व अशुभ संकल्प व विकल्पों से रहित होकर अपनी ही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न होने वाला जो विकार रहित सुखामृत रस का स्वाद, उससे तृप्त हो शुभ व अशुभ कर्मों से रागद्वेष मत करो।

आचार्य भगवन यहाँ स्पष्ट करते हैं कि जो त्यागी होकर परम समाधि में लगा रहना चाहता है, उसके लिये क्या शुभ और क्या अशुभ, सभी कर्म उपेक्षणीय होते हैं, किन्तु जहाँ समाधि से हटकर कर्तव्यशीलता पर मन आया कि वहाँ पापाचार से बचे रहने के लिये परिश्रमशीलता और विश्वासपात्रता जैसे सत्कर्मों में प्रयत्नपूर्वक लग जाना आवश्यक है।

ध्यान का विषय

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिएं।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे।। ८३।।

समयसार १२२

सर्वोत्तमा शरण मंगल चार प्यारे, पूजें जिन्हें खग खगेन्द्र सुरेन्द्र सारे।
आराधना सुगुण नायक हैं गुरों को, ध्याओ सदा विनय से परमेष्ठियों को।।

अन्वयार्थ - (**पंच वि गुरवे**) पंच गुरुओं का (**झायहि**) ध्यान करो। जो (**चउ मंगल सरण लोय परियरिए**) चार मंगल, चार शरण, चार लोकोत्तम रूप हैं (**आराहणणायगे**) आराधनाओं के नायक हैं (**वीरे**) कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करने में वीर हैं। (**णरसुरखेयरमहिए**) मनुष्य, देव और विद्याधरों से आराधित है।

अर्थ - पंच गुरुओं का ध्यान करो। जो चार मंगल, चार शरण, चार लोकोत्तम रूप हैं आराधनाओं के नायक हैं कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करने में वीर हैं। मनुष्य, देव और विद्याधरों से आराधित हैं।

भावार्थ - अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं, ये ही पाँच गुरु कहलाते है पापों को गलाने वाले होने से या परमानन्द रूप सुख को देने वाले होने से ये मंगल स्वरूप है। तीनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट होने के कारण लोकोत्तम हैं तथा जीवों की पीड़ी नष्ट करने में समर्थ हैं इसलिये शरणभूत कहे जाते हैं ये सभी मनुष्य, देव और विद्याधरों से पूजित चतुर्विध आराधना के नायक तथा कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट करने में समर्थ हैं अतः इनका निरंतर ध्यान करना चाहिये।

जिस प्रकार विमान हवाई पट्टी के आधार से तीन चाकों के माध्यम से पहले दौड़ता है गति पकड़ता है और फिर आसमान में उड़ जाता है, ठीक इसी प्रकार हवाई पट्टी रूप दिगम्बरत्व के आधार से तीन चाक रूप रत्नत्रय को अंगीकार कर अभेद अखण्ड ध्यानाकाश में उड़ने का आनंद लिया जा सकता है।

वचनमय द्रव्य प्रतिक्रमणादि ही मुनि का स्वाध्याय

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाउं ॥ ८४ ॥

नियमसार १५३

आलोचना, नियम आदिक मूर्तमान, भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान।
स्वाध्याय से सफल हैं गुरु हैं बताते, होते विकल्पमय भेद चरित्र तातैं॥

अन्वयार्थ - (वयणमयं) वचनमय (पडिकमणं) प्रतिक्रमण (वयणमयं पच्चखाण) वचनमय प्रत्याख्यान (णियमं) नियम (च) और (वयणमयं आलोयण) वचनमय आलोचना (तं सव्वं सज्झाउं)इन सभी को तुम स्वाध्याय (जाण) जानो।

अर्थ - वचनमय प्रतिक्रमण वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना इन सभी को तुम स्वाध्याय जानो।

भावार्थ - मुनि के छह आवश्यकों में होने वाले वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम (स्तुति, वंदना आदि) तथा वचनमय आलोचना को ही उनका स्वाध्याय जानो।

मिथ्या में दुष्कृतं इत्यादि वचनों के उच्चारणरूप प्रतिक्रमण वचन प्रतिक्रमण है। सिद्धभक्ति, योगभक्ति पूर्वक गुरु की साक्षी से चार प्रकार के आहार का अथवा अन्य किसी भी वस्तु त्याग करना वचनमय प्रत्याख्यान है। काल की अवधि करके जो कुछ भी त्याग करना अथवा क्रियाओं का अनुष्ठान करना वह भी वचनोच्चारणरूप नियम है। गुरु के पास में अपने अपराध का निवेदन करना वचनमय आलोचना है। इन सबको तुम स्वाध्याय समझो।

मुनि के षट्आवश्यकों में जो वचनमय द्रव्यप्रतिक्रमण आदि आवश्यक हैं, यही उनका स्वाध्याय है। इसीलिए उनके लिए षडावश्यकों में अलग से स्वाध्याय नाम का कोई आवश्यक नहीं कहा गया है।

ध्यानमय निश्चय प्रतिक्रमणादि

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥ ८५ ॥
अप्पडिकमणं अप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोही अमयकुंभो ॥ ८६ ॥

समयसार ३२८, ३२९

निंदा निवृत्ति परिहार सुधारणाऐं, गर्हा प्रतिक्रमण शुद्धि प्रसारणाएँ।
पीयूष कुम्भ तब ही मुनिमत्त होते, शुद्धोपयोग जब हो विष कुम्भ होते॥
आठों अनिंदन अशुद्धि अधारणादि, पीयूष कुम्भ जब साधु सधे समाधि।
ऐसा सुजान समयोचित कार्य साधो, एकान्तवाद तजदो अयि आर्य साधो॥

अन्वयार्थ - (पडिकमणं) प्रतिक्रमण (पडिसरणं) प्रतिसरण (पडिहरणं) परिहार (धारणा) धारणा (णियत्तीय) निवृत्ति (णिंदा) निंदा (गरुहा) गर्हा (य) और (सोही) शुद्धि (अट्ठविहो) यह आठ प्रकार का (विसकुंभो) विषकुम्भ (होदि) होता है।

(अप्पडिकमणं) अप्रतिक्रमण (अप्पडिसरणं) अप्रतिसरण (अप्पडिहारो) अपरिहार (अधारणा) अधारणा (अणियत्ती) अनिवृत्ति (य) और (अणिंदा) अनिंदा (अगरुहा) अगर्हा (चेव) और (असोही) अशुद्धि- ये आठ (अमयकुंभो) अमृत कुम्भ हैं।

अर्थ - प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकार का विषकुम्भ होता है।

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति और अनिंदा अगर्हा और अशुद्धि- ये आठ अमृत कुम्भ हैं।

भावार्थ - यद्यपि सराग अवस्था में शुभोपयोगी श्रमण के लिए
(१) प्रतिक्रमण - किये हुए दोषों का निराकरण करना।
(२) प्रतिसरण - सम्यक्त्वादि गुणों में प्रवृत्त होना।
(३) परिहार - मिथ्यात्व तथा रागादि दोषों का निवारण करना।

(४) धारणा - पंचनमस्कार आदि मंत्र तथा प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन के द्वारा चित्त को स्थिर करना।

(५) निवृत्ति - बहिरंग विषय-कषायादि में जो इच्छायुक्त चित्त होता है उसका निवारण करना।

(६) निन्दा - अपने आप की साक्षी से दोषों को प्रकट करना।

(७) गर्हा - गुरु की साक्षी में दोषों को प्रकट करना।

(८) शुद्धि - किसी भी प्रकार के दोष हो जाने पर प्रायश्चित्त लेकर उसका शोधन करना।

ये आठ प्रकार के अमृतकुम्भ हैं। परन्तु समस्त पर-द्रव्यों के आलंबन से शून्य, निर्विकल्प, शुद्धोपयोगी समाधिस्थ श्रमण के लिए ये आठों ही विषकुम्भ हैं। इस श्रमण के लिए तो अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अप्रतिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा तथा अशुद्धि, ये आठ ही अमृतकुम्भ हैं, जो कि शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठान एवं त्रिगुप्ति रूप लक्षण वाले हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अप्रतिक्रमण आदि दो प्रकार के होते हैं। प्रथम अप्रतिक्रमण अशुभोपयोग के साथ विषय-कषायादि में प्रवृत्ति करने रूप होता है, तो दूसरा शुद्धोपयोग की की दशा में त्रिगुप्ति से सहित संयत के आत्मा में स्थिर होने रूप होता है, जो कि यथार्थ में निश्चयनय से प्रतिक्रमण है। इनमें पहला अप्रतिक्रमण तो सर्वथा त्याज्य ही है, जबकि दूसरा अप्रतिक्रमण अमृतकुम्भरूप है। निर्विकल्प-समाधि की अवस्था में होने वाला अप्रतिक्रमण की अपेक्षा शुभोपयोग रूप सरागचरित्र अवस्था में होने वाला प्रतिक्रमण विषकुम्भ रूप है परन्तु जब श्रमण अप्रतिक्रमण रूप समाधिस्थ दशा में स्थिर नहीं रह पाते, तब शुभोपयोग रूप अवस्था में आने पर यही प्रतिक्रमण उन्हें अमृतकुम्भ रूप हो जाता है।

यहाँ पर टीकाकार आचार्य जयसेन ने धारणा के लिए आलम्बन जिनप्रतिमा को भी कहा है। स्वाध्याय या शास्त्र के माध्यम से चित्त स्थिर नहीं हो पाता किन्तु जिन प्रतिमा आदि के आलम्बन लेने से विकल्पों में भटकने वालो चित्त स्थिर हो जाता है जो कि निर्विकल्प समाधि के लिए कारण होता है।

ध्यान का विषय

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं।।८७।।

समयसार ९३

सद्ध्यान रूप सर में अवगाह पाता, साधु स्वदोष मल को पल में धुलाता।
सद्ध्यान ही विषम कल्मष पातकों का, सच्चा प्रतिक्रमण है घर सद्गुणों का।।

अन्वयार्थ - (**झाणणिलीणो साहू**) ध्यान में लीन साधु (**सव्व दोसाणं**) सभी दोषों का (**परिचागं**) परित्याग (**कुणइ**) करता है (**तम्हा**) इसलिये (**झाणमेव हि**) ध्यान ही (**सव्व**) सभी (**अदिचारस्स**) अतिचारों-दोषों का (**पडिकमणं**) प्रतिक्रमण है।

अर्थ - ध्यान में लीन साधु सभी दोषों का परित्याग करता है इसलिये ध्यान ही सभी अतिचारों-दोषों का प्रतिक्रमण है।

भावार्थ - शुद्धात्म तत्त्व में एकाग्र परिणतिरूप परम धर्म ध्यान में अथवा शुक्लध्यान में लीन तन्मय हुये साधु, मूलगुणों में अथवा उत्तर गुणों में उत्पन्न हुए सभी दोषों का परित्याग कर देते है, उन अन्तर्जल्प-बहिर्जल्प से रहित, निर्विकल्प समाधि में स्थित महर्षियों के सभी दोष नष्ट हो जाते हैं इसलिये वास्तव में ध्यान ही सभी अतिचारों-दोषों का प्रतिक्रमण है।

ध्यान की बात करना और ध्यान से बात करना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। ध्यान के केन्द्र खोलने मात्र से ध्यान में केन्द्रित होना संभव नहीं है।

वर्तमान काल में ध्यान तथा उसका माहात्म्य

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी॥ ८८॥
अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥ ८९॥

मोक्षपाहुड ७६, ७७

लो धर्म ध्यान रत, भारत देश में भी, साधू मिले दुखद पंचम काल में भी।
ऐसे निजात्म रत साधु जिन्हें न माने, वे अज्ञ मूढ़ कहलाय, सुनों सयाने॥
ज्ञानादि रत्नत्रय से शुचि हो सुहाते, लो आज भी मुनि निजातम ध्यान ध्याते।
लौकांतिका सुरप,या फलरूप होते, आ,स्वर्ग से मुनि बने शिव को संजोते॥

अन्वयार्थ - (**भरहे दुस्समकाले**) भरतक्षेत्र में दु:षम नामक पञ्चमकाल में (**साहुस्स**) साधु के (**धम्मज्झाणं**) धर्मध्यान (**हवेइ**) होता है। (**तं**) वह धर्मध्यान (**अप्पसहावठिदे**) आत्म स्वभाव में स्थित [साधु के होता है ऐसा जो] (**ण मण्णइ**) नहीं मानता है (**सो वि**) वह भी (**अण्णाणी**) अज्ञानी है।

(**अज्जवि**) आज भी (**तिरयणसुद्धा**) रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुए मनुष्य (**अप्पा**) आत्मा का (**झाएवि**) ध्यानकर (**लोयंतियदेवत्तं**) लौकांतिक देवों के पद को [तथा] (**इंदत्तं**) इन्द्रपद को (**लहदि**) प्राप्त करते हैं [और] (**तत्थ**) वहाँ से (**चुआ**) च्युत होकर (**णिव्वुदिं**) निर्वाण को (**जंति**) प्राप्त करते हैं।

अर्थ - भरतक्षेत्र में दु:षम नामक पञ्चमकाल में साधु के धर्मध्यान होता है। वह धर्मध्यान आत्म स्वभाव में स्थित [साधु के होता है ऐसा जो] नहीं मानता है वह भी अज्ञानी है।

आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यानकर लौकांतिक देवों के पद को [तथा] इन्द्रपद को प्राप्त करते हैं [और] वहाँ से

च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - इस समय दु:षमा नाम का अवसर्पिणी का पाँचवा काल चल रहा है। यह ठीक है कि इस समय यहाँ मोक्ष नहीं है अर्थात् इस काल का उत्पन्न हुआ मनुष्य मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता तथापि धर्म्य ध्यान का निषेध नहीं है। जो मुनि इस समय भी आत्म भावना से तन्मय है उसे धर्म ध्यान हो सकता है ऐसा जो भी नहीं मानता है वह पुरूष पापी अज्ञानी तथा जिनागम के ज्ञान से रहित है आज भी पंचम काल में उत्पन्न सैनी पंचेन्द्रिय जीव उत्तम कुल आदि सामग्री को प्राप्त होकर वैराग्य वश दीक्षा धारण करते हैं तथा रत्नत्रय से शुद्ध रहते हैं अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक रहते ही हैं, जो कहते हैं कि इस समय महाव्रती नहीं हैं वे नास्तिक हैं उन्हें जिनशासन से बाह्य जानना चाहिए । रत्नत्रय की शुद्धता को प्राप्त हुए निकट भव्य जीव आज भी इस पंचम काल के समय भी इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं। न केवल इन्द्रत्व पद को ही प्राप्त होते हैं किन्तु कितने ही मुनि अल्पश्रुत के ज्ञाता होकर भी आत्म भावना के बल से लौकान्तिक देव का पद प्राप्त करते हैं।

मंत्र के ज्ञान, पाठ, जाप और ध्यान इन सभी में बहुत अन्तर है। सिद्धि ध्यान से होती है।

प्रवृत्तिगत प्रमाद समितियों से और शुद्धात्मचलन रूप प्रमाद ध्यान से मिटाया जाता है।

जिसका अशन (भोजन) और आसन पर नियंत्रण है वही ध्यान लगा सकता है।

चिन्तन ध्यान नहीं मन का व्यापार है जबकि ध्यान तीनों योगों का पूर्ण विराम है।

ध्यान का माहात्म्य

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहि वि झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं।।९०।।

मोक्षपाहुड २३

घोरातिघोर तप से तन को तपाते, प्रायः सभी अमर हो मुनि स्वर्ग पाते।
सद्ध्यान से सुर बने यदि स्वर्ग जाते, आगे नितान्त शिव शाश्वत सौख्य पाते।।

अन्वयार्थ - (**तवेण**) तप से (**सग्गं**) स्वर्ग (**सव्वो**) सभी (**पावए**) प्राप्त करते हैं (**तहि वि**) पर जो (**झाणजोएण**) ध्यान के योग से (**सग्गं**) स्वर्ग (**पावइ**) प्राप्त करता है (**सो पावइ**) उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है। ऐसा जीव (**परलोए**) पर भव में (**सासयं**) शाश्वत (**सोक्खं**) सुख को प्राप्त होता है।

अर्थ - तप से स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं पर जो ध्यान के योग से स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है। ऐसा जीव पर भव में शाश्वत सुख को प्राप्त होता है।

भावार्थ - उपवास आदि तप के माध्यम से तो स्वर्ग भव्य-अभव्य सभी जीव प्राप्त कर लेते हैं परन्तु उन सभी जीवों में ध्यान के योग से जो स्वर्ग प्राप्त करते हैं, वे यथार्थ में स्वर्ग प्राप्त करने वाले कहे जाते हैं क्योंकि ऐसे जीव स्वर्ग से आकर आगमी भव में अविनाशी शाश्वत निर्वाण सुख को प्राप्त कर सकते हैं। जो साधारण कायक्लेश से स्वर्ग जाते हैं उनका मोक्ष जाना निश्चित नहीं हैं। अभव्य जीव भी मुनिव्रत धारण कर तप के प्रभाव से नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परन्तु मोक्ष का कभी ठिकाना नहीं है।

यहाँ परलोए के स्थान में परभावे भी पाठ देखने में आता है। उसके अर्थ की संगति उन्होंने परभावे का पर जन्मनि अर्थ करके बैठाई है।

कर्मबन्ध और सांख्यदर्शन

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जदि पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि।।९१।।
कम्मइयवग्गणसु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।।९२।।
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमं तं कहं तु परिणामयदि णाणी ।।९३।।

समयसार १२३, १२४, १२५

जो जीव में जड़ बँधा न स्वयं बँधा है, वो कर्म रूप ढलता न स्वयं सदा है।
ऐसा त्वदीय मन का यदि भाव होगा, तो मित्र पुद्गल नहीं परिणामि होगा।।
किंवा स्वयं न ढलती विधि वर्गणायें, कर्मत्व में सहज पुद्गल की घटायें।
साम्राज्य सांख्यमत का फिर तो चलेगा, संसार का फिर पता रह न सकेगा।
आत्मा स्वयं परिणामाकर पुद्गलों को, देता बना विधि, मनो! विधि शक्तियों को।
आश्चर्य है! जड़ नहीं परिणामि वैसे!! आत्मा उन्हें परिणमासकता हि कैसे ?

अन्वयार्थ - (**इणं पुग्गलदव्वं**) यह पुद्गल द्रव्य (**जीवे**) जीव में (**सयं**) स्वयं (**ण बद्धं**) नहीं बंधा है [और] (**कम्मभावेण**) कर्मभाव से (**सयं**) स्वयं (**ण परिणमदि**) परिणमन नहीं करता (**जदि**) यदि (ऐसा मानो) (**तदा**) तब तो वह (**अप्परिणामी**) अपरिणामी (**होदि**) हो जायेगा।

(**य**) अथवा (**कम्मइयवग्गणसु**) कार्मणवर्गणाएँ (**कम्मभावेण**) कर्मभाव से- द्रव्यकर्म रूप से (**अपरिणमंतीसु**) परिणमन नहीं करती-ऐसा मानो तो (**संसारस्स**) संसार के (**अभावो**) अभाव का (**पसज्जदे**) प्रसंग आ जाएगा (**वा**) अथवा (**संखसमओ**) सांख्य-मत का प्रसंग आ जाएगा।

(**जीवो**) जीव (**पुग्गलदव्वाणि**) पुद्गल द्रव्यों को (**कम्मभावेण**) कर्मभाव से (**परिणामयदे**) परिणमन कराता है यदि ऐसा माने तो (**णाणी**) ज्ञानी उन्हें (**कहं तु**) किस प्रकार (**परिणामयदि**) परिणमन करा सकता है ? जबकि (**ते**) वे पुवे पुद्गल द्रव्य (**सयम परिणमं**) स्वयं परिणमन करते हैं।

अर्थ - पुद्गल द्रव्य जीव में न तो स्वयं बंधा है और न ही कर्म के रूप में ही परिणमा है, यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गल द्रव्य अपरिणामी सिद्ध होगा। कर्मवर्गणायें स्वयं कर्म रूप से नहीं परिणमती हैं, यदि ऐसा मान लिया जाये तो फिर संसार का अभाव हो जायेगा अथवा सांख्य मत का प्रसंग आ जायेगा। यदि ऐसा माना जाये कि पुद्गल द्रव्यों को जीव हठात् कर्मरूप में परिणमाता है, तो वहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब पुद्गल द्रव्य स्वयं अपरिणामी है तब जीव उसको कैसे परिणमा सकता है?

भावार्थ - आचार्य सांख्य मत के ऐसे श्रद्धान को रखने वाले व्यक्ति से कह रहे हैं कि तू जीव को सदा शुद्ध मानता है इससे तो यह कहा नहीं जा सकता कि जीव में पुद्गल कर्मों का बन्धन है और पुद्गल को सदा ही नित्य मानता है, इससे यह भी नहीं कहा नहीं जा सकता कि पुद्गल स्वयं कर्म रूप हो गया है अतएव पुद्गल को सदा परिणाम रहित मानना पड़ेगा ।

जैसे सांख्य मत में जीव को सर्वथा शुद्ध अकर्ता माना है ऐसा ही जब आत्मा हो जायेगा तब सब आत्माएं सदा सिद्ध रूप ही रहेंगी ऐसा मानने से संसार का अभाव हो जायेगा ।

ऊपर की गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि सांख्यमत, जो जीव को सदा शुद्ध मानता है उसके मत से संसार नहीं बनता क्योंकि स्वयं बिना निमित्त के पुद्गल कर्म जीव के साथ लगकर उसे अशुद्ध नहीं कर सकते और यदि पुद्गल को सदा नित्य माना जायेगा तो भी कर्म का सम्बन्ध जीव के नहीं बन सकता-क्योंकि ऐसी दशा में पुद्गल के परिणमन नहीं हो सकता। जिसमें स्वयं परिणमन शक्ति नहीं है उसे कोई अन्यरूप नहीं कर सकता। इससे यह सिद्ध किया कि जीव के अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमन करती हैं-इससे पुद्गल में किसी अपेक्षा कर्मरूप होने की शक्ति है। यह सर्व कथन व्यवहार नय से है अतः जो शुद्धात्मिक रस का अनुभव करना चाहें उनके लिये हेय है-त्यागने योग्य है उन्हें तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मज्ञान की शरण लेकर स्वभाव में गुप्त रहना योग्य है ।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥ ९४॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि॥ ९५॥

समयसार ८६, ८७

हैं जीव में विकृत रागमयी दशायें, तो कर्मरूप ढलती विधि वर्गणायें।
मोहादि का उदय पाकर जीव होता,रागादिमान फलतः निज होश खोता॥
कर्ता न जीव यह होविधि के गुणों का,कर्ता कभी न विधि चेतन के गुणों का।
तो भी परस्पर निमित्त नहीं बनेंगे, तो ''रागभाव'' विधिभाव न जन्म लेंगे॥

अन्वयार्थ - (**पुग्गला**) पुद्गल (**जीवपरिणामहेदुं**) जीव के परिणाम के निमित्त से (**कम्मत्तं**) कर्मरूप से (**परिणमंति**) परिणमित होते हैं, (**तहेव**) इसी प्रकार (**जीवो वि**) जीव भी (**पुग्गलकम्मणिमित्तं**) पुद्गल कर्म के निमित्त से (**परिणमदि**) परिणमन करता है।

(**जीवो**) जीव (**कम्मगुणे**) कर्म के गुणों को (**ण वि कुव्वदि**) नहीं करता है (**तहेव**) इसी प्रकार (**कम्मं**) कर्म (**जीवगुणे**) जीव के गुणों को नहीं करता है, (**दु**) परन्तु (**अण्णोण्णणिमित्तेण**) एक-दूसरे के निमित्त से (**दोण्हं पि**) इन दोनों के (**परिणामं**) परिणाम (**जाण**) जानो।

अर्थ - पुद्गल जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप से परिणमित होते हैं, इसी प्रकार जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणमन करता है।

जीव कर्म के गुणों को नहीं करता है इसी प्रकार कर्म जीव के गुणों को नहीं करता है, परन्तु एक-दूसरे के निमित्त से इन दोनों के परिणाम जानो।

भावार्थ - जिस प्रकार जीव के रागद्वेषादि परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणायें कर्मत्व रूप परिणमन करती हैं, वैसे ही पौद्गलिक-मोहादिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव मोह-रागादिरूप परिणमन करता है। इस

प्रकार होने पर भी जीव कर्म के गुण रूपादिकों को स्वीकार नहीं करता है, उसी भांति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, फिर भी इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेषादि-रूप परिणामों एवं कार्मण वर्गणाओं के द्रव्य-कर्म के रूप में परिणमन करने में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। फिर भी जीव और कर्म रूप पुद्गल अपने-अपने स्वभाव / गुणों को नहीं छोड़ते हैं।

जो आँखें अपमान का प्रसंग पाकर भी रक्त वर्ण की नहीं होती अपितु क्षमा समता के दूध से भर जाती है वे दिव्यता को पा जाती है।

जो साधक वस्तुओं को न अच्छी मानता है अपितु समता भाव रखता है वही व्यक्ति भगवान महावीर का अनुगामी बन सकता है।

बाह्य पदार्थों को ओझल कर अपने आप में आने का नाम ही अध्यात्म है।

अध्यात्म जब गौण हो जाता है तब पूरा का पूरा ज्ञान मिट जाता है वास्तव में त्यागी का जीवन अध्यात्म ही है।

वस्तुतः अध्यात्म साधना यही है कि जो भी ज्ञान का विषय बने उसमें समता रखनी चाहिये।

जिसे मरण से भीति नहीं जन्म से प्रीति नहीं, वही अध्यात्म को पा सकता है।

आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता है

जं कुणदि भावमदा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स।।९६।।

समयसार १३४

आत्मा स्वयं हृदय में कुछ भाव लाता, कर्त्ता उसी समय वो उसको कहाता।
हो ज्ञान भाव मुनि में अपरिग्रही में, अज्ञान भाव जु गृहस्थ परिग्रही में।।

अन्वयार्थ - (**आदा**) आत्मा (**जं भाव**) जिस भाव को (**कुणदि**) करता है (**सो**) वह (**तस्स भावस्स**) उस भावकर्म का (**कत्ता**) कर्त्ता (**होदि**) होता है (**णाणिस्स दु**) ज्ञानी के तो (**णाणमओ**) ज्ञानमय भाव होता है [और] (**अणाणिस्स**) अज्ञानी के (**अण्णाणमओ**) अज्ञानमय भाव होता है।

अर्थ - आत्मा जिस भाव को करता है वह उस भावकर्म का कर्ता होता है ज्ञानी के तो ज्ञानमय भाव होता है अज्ञानी के अज्ञानमय भाव होता है।

भावार्थ - जिस परिणाम को यह आत्मा करता है उस भाव का करने वाला वही होता है। जो भाव अनंतज्ञान आदि चतुष्टय लक्ष्य को धरने वाले कार्य समयासार को उत्पन्न करने वाला है, विकल्प रहित समाधि के परिणाम में परिणमन करते हुये कारण समयसार लक्षण को रखने वाला है तथा सर्व प्रकार के आरम्भ में नहीं परिणमन किये हुये है। ऐसा भेदज्ञान रूप भाव ज्ञानी जीव के शुद्धात्मा की प्रसिद्धि, प्रतीति, संवित्ति, उपलब्धि व अनुभव रूप होने से ज्ञानमयी ही होता है परन्तु अज्ञानी जीव के पूर्वोक्त भेदज्ञान के अभाव से शुद्धात्मानुभव स्वरूप का लाभ न होने से अज्ञानमयी ही भाव होता है।

।। तृतीय ज्ञान - ज्ञेयाधिकार समाप्त।।

अध्यात्म के बिना जीवन में कोई रस नहीं रह जाता। चौबीसों घंटे बहिर्मुखी दृष्टि के साथ ही जीवन चला जा रहा है। उसे छोड़कर अध्यात्म के साथ अन्तर्मुखी साधना करनी चाहिये।

चतुर्थ श्रामण्य-अधिकार

दर्शनहीन वंदनीय नहीं है

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो॥ ९७॥

दर्शनपाहुड २

जो धर्म मूल वह दर्शन नाम पाया, ऐसा सुशिष्य जन को जिनने बताया।
सद्धर्म को श्रवण ध्यान लगा सुनो रे!,वे वन्दनीय नहिं दर्शन हीन को रे!!।।

अन्वयार्थ - (**जिणवरेहिं**) जिनेन्द्र भगवान् ने (**सिस्साणं**) शिष्यों के लिये (**दंसणमूलो धम्मो**) दर्शनमूलक धर्म (**उवइट्ठो**) उपदेशित किया है (**तं**) उसे (**सकण्णे**) कानों से (**सोऊण**) सुनकर (**दंसणहीणो**) दर्शन से रहित [मनुष्य की] (**वंदिव्वो**) वंदना (**ण**) नहीं करना चाहिये।

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान् ने शिष्यों के लिये दर्शनमूलक धर्म उपदेशित किया है उसे कानों से सुनकर दर्शन से रहित [मनुष्य की] वंदना नहीं करना चाहिये।

भावार्थ - इस गाथा में दर्शन का अर्थ सम्यक्दर्शन लेना उचित नहीं बैठता है क्योंकि आगे की दो गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने दर्शन की परिभाषा करते हुये स्वयं स्पष्ट किया है कि मुनि मुद्रा ही जिनमार्ग में दर्शन कही गयी है । आचार्य के इस अभिप्राय को ध्यान में रखने पर उपरोक्त गाथा का यह अर्थ निकलता है कि निर्ग्रन्थता ही धर्म का मूल है और जो सग्रन्थ हैं उनकी वंदना नहीं करना चाहिये ।

गुरुभक्ति करते करते जिसका हृदय शुद्ध हो गया, आस्था मजबूत हो गई है उसे ही गुरु अध्यात्म का रहस्य उद्घाटित करते हैं।

दर्शन का अर्थ

दुविहंपि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई॥ ९८॥

दर्शनपाहुड १४

वाक्काय चित्त पर संयम पूर्ण ढ़ोते, जो अन्तरंग बहिरंग निसंग होते।
ले शुद्ध अन्न स्थित हो शुचि बोध धारे, सो जैन दर्शन सुएषणदोष टारे॥

अन्वयार्थ - (**दुविहंपि**) दो प्रकार के (**गंथचायं**) परिग्रह का त्याग करना, (**तीसु**) तीनों (**जोएसु**) योगों पर (**संजमो**) संयम (**ठादि**) रखना, (**णाणम्मि**) ज्ञान को (**करणसुद्धे**) इन्द्रियों के विषयों से शुद्ध रखना और (**उब्भसणे**) खड़े होकर आहार लेना (**दंसणं होइ**) दर्शन होता है।

अर्थ - दो प्रकार के परिग्रह का त्याग करना, तीनों योगों पर संयम रखना ज्ञान को इन्द्रियों के विषयों से शुद्ध रखना और खड़े होकर आहार लेना दर्शन होता है।

भावार्थ - जो साधु होकर भी वस्त्रादि परिग्रह रखते हैं जिनके मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में किसी प्रकार की शुद्धि नहीं है जो इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपने ज्ञान को निर्मल नहीं रख पाते हैं अर्थात् विषय सामग्री की प्राप्ति के लिये आत्म स्वरूप को छोड़ अन्यत्र भ्रमाते हैं अथवा यन्त्र मन्त्र आदि लौकिक कार्यों में इसे प्रयुक्त करते हैं और गृहस्थ के घर खड़े-खड़े आहार न लेकर गोचरी द्वारा लाये हुए आहार को एक जगह बैठकर सुख सुविधा से ग्रहण करते हैं उन्हें दर्शन नहीं कहा है और दर्शन से हीन होने के कारण वे वन्दनीय नहीं हैं।

आप आनंद की अनुभूति चाहते हुये चाह रहे हैं कि वह कहीं बाहर से आ जाये। पर ध्यान रखना बाहर से कभी भी आने वाली नहीं । बसंत की बहार, बाहर नहीं अन्दर है।

निर्ग्रंथ-मुद्रा ही दर्शन है

दंसेई मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।।९९।।

बोधपाहुड १४

सद्धर्म को सहज सम्मुख शीघ्र लाता, सम्यक्त्व मोक्ष-पथ संयम को दिखाता।
निर्ग्रन्थ ज्ञानमय 'दर्शन' भी वही है, यों जैनशास्त्र हमको कहता सही है।।

अन्वयार्थ - जो (**सम्मत्तं**) सम्यक्त्व (**संजमं**) संयम (**च**) और (**सुधम्मं**) सुधर्म को (**मोक्खमग्गं**) मोक्षमार्ग (**दंसेइ**) दिखलाता है तथा (**णिग्गंथं**) निर्ग्रन्थ-परिग्रह रहित (**णाणमयं**) ज्ञानमय है वह (**जिणमग्गे**) जिनमार्ग में (**दंसणं**) दर्शन (**भणियं**) कहा गया है।

अर्थ - जो सम्यक्त्व, संयम और सुधर्म को मोक्षमार्ग दिखलाता है तथा निर्ग्रन्थ-परिग्रह रहित ज्ञानमय है वह जिनमार्ग में दर्शन कहा गया है।

भावार्थ - तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, पांच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों रूप चरित्र तथा अनशनादि बारह प्रकार के तप रूप सुधर्म, यह मोक्ष मार्ग है। वह दर्शन, निर्ग्रन्थ है - बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित है, तथा ज्ञानमय है-सम्यग्ज्ञान से रचा हुआ है जिनमार्ग सर्वज्ञ वीतराग देव के द्वारा प्रतिपादित मार्ग में दर्शन को सम्यक्त्व कहा है। यह सम्यक्त्व रूप दर्शन, मुनि और श्रावकों का तथा अविरत सम्यग्दृष्टि का आधारभूत कहा गया है।

अध्यात्म के बिना जीवन में कोई रस नहीं रह जाता। चौबीसों घंटे बहिर्मुखी दृष्टि के साथ ही जीवन चला जा रहा है। उसे छोड़कर अध्यात्म के साथ अन्तर्मुखी साधना करनी चाहिये।

मुनि-मुद्रा का माहात्म्य

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।१००।।

दर्शनपाहुड १०

हो मूल नष्ट जिसका फल फूल दाता, फूले फले न फिर वो दुम सूख जाता।
त्यों मूल नष्ट जिन दर्शन भ्रष्ट देही, होता न मुक्त भव से न बने विदेही।।

अन्वयार्थ - (**जह**) जिस प्रकार (**मूलस्मि**) जड़ के (**विणट्ठे**) विनष्ट हो जाने पर (**दुमस्स परिवार**) वृक्ष का परिवार (**परिवड्ढी**) वृद्धि को (**णत्थि**) नहीं प्राप्त होता है (**तह**) उसी प्रकार जो (**जिणदंसण भट्ठा**) जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं वे (**मूलविणट्ठा**) मूल विनष्ट हैं, ऐसे लोग (**सिज्झंति**) सिद्धत्व को (**ण**) प्राप्त कर नहीं सकते।

अर्थ -जिस प्रकार जड़ के विनष्ट हो जाने पर वृक्ष का परिवार वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं वे मूल विनष्ट हैं, ऐसे लोग सिद्धत्व को प्राप्त कर नहीं सकते।

भावार्थ - जिस प्रकार जड़ के नष्ट हो जाने पर शाखा-प्रशाखा रूप पेड़ के परिवार की वृद्धि रुक जाती है, उसी प्रकार जो जिन-मुद्रा / दिगम्बर मुद्रा से भ्रष्ट हो गया, वह मूल के ही विनष्ट हो जाने से निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकेगा। लाखों जन्मों तक संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं। संस्कृत टीकाकार ने मूल का अर्थ मूलसंघ करते हुए लिखा है कि जो मूलसंघ से च्युत हैं अर्थात् मूलसंघ की आम्नाय से भ्रष्ट होकर नये-नये पंथ चलाते हैं वे मोक्ष को प्राप्त नहीं होते, इसी संसार में लाखों जन्मों तक भटकते रहते हैं।

अध्यात्म में उत्पाद, व्यय की अपेक्षा ध्रौव्य (सत्ता) को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसमें जो एक बार उतर जाता है वह तर जाता है।

दर्शन भ्रष्ट दर्शनधारकों से पूजा चाहे तो ?

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति[1] दंसणधराणं।
ते होंति लुल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं॥ १०१॥

दर्शनपाहुड १२

जो भ्रष्ट दर्शन सुदर्शन धारियों से, हैं चाहते पद प्रणाम व्रती जनों से।
लूले व मूक बनते पर लोक में हैं, पाते न बोधि भ्रमते त्रय लोक में हैं॥

अन्वयार्थ - (**जे**) जो (**दंसणेसु**) दर्शन से (**भट्ठा**) भ्रष्ट होकर (**दंसणधराणं**) दर्शन धारकों से (**पाए पाडंति**) पैर पड़वाना चाहते है उनसे अपनी पूजा, सम्मान चाहते है (**ते**) वे (**लुल्लमूआ**) लूले और गूंगे (**होंति**) होते हैं (**तेसिं**) उन्हें (**बोही**) बोधि की प्राप्ति (**दुल्लहा**) दुर्लभ है।

अर्थ - जो दर्शन से भ्रष्ट होकर दर्शन धारकों से पैर पड़वाना चाहते है उनसे अपनी पूजा, सम्मान चाहते हैं वे लूले और गूंगे होते हैं उन्हें बोधि की प्राप्ति दुर्लभ है।

भावार्थ - श्रुतसागरी संस्कृत टीका वाली प्रति में (पाए ण पडंति) यह पाठ है जिसके अनुसार जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट तथा मयूर पिच्छ, कमण्डलु और परमागम शास्त्रों को जिन्होंने छोड़ दिया है तथा गृहस्थ भेष को धारण करते हुये, संयम के धारी सम्यग्दृष्टि मुनियों के चरणों में नहीं पड़ते हैं, उन्हें नमोस्तु नहीं करते हैं और अभिमान के वश मूसल के समान यों ही खड़े रहते हैं वे लूले, गूंगे होते हैं। ऐसे लोगों को लाखों जन्म में भी रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ रहती है ।

जयचन्द्रजीकृत हिन्दी प्रति में (पाए पाडंति) यह पाठ है जिसका अर्थ यह है कि-जो स्वयं मुनित्व से भ्रष्ट हैं लेकिन मुनित्व के धारकों से अपने पैर पड़वाना चाहते हैं, उनसे अपनी पूजा/सम्मान चाहते हैं, वे लूले-गूंगे होते हैं। उन्हें बोधि (शुद्धात्मानुभूति/रत्नत्रय) की प्राप्ति दुर्लभ है।

१.पाए ण पडंति

दर्शनधारक दर्शनभ्रष्ट की विनय करे तो ?

जेवि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं॥ १०२॥

दर्शनपाहुड १३

लो जान बूझ यदि दर्शन भ्रष्ट को ही, लज्जा प्रलोभ भय से नमता सुयोगी।
पाता न बोधि जिनलिंग सुधारता भी,जो पाप की विनय है करता वृथा ही।।

अन्वयार्थ -(**जेवि**) जो (**जाणंता**) जानते हुए भी (**लज्जगारव भयेण**) लज्जा, गर्व और भय से (**तेसिं**) उन मिथ्यादृष्टियों के (**पडंति**) पैर पड़ते हैं उन्हें नमोस्तु आदि करते हैं (**पावं अणुमोयमाणाणं**) पाप की अनुमोदना करने वाले (**तेसिं पि**) उन लोगों को भी (**बोही**) बोधि (**णत्थि**) नहीं है।

अर्थ - जो जानते हुए भी लज्जा, गर्व और भय से उन मिथ्यादृष्टियों के पैर पड़ते हैं उन्हें नमोस्तु आदि करते हैं पाप की अनुमोदना करने वाले उन लोगों को भी बोधि नहीं है।

भावार्थ - जो पुरूष स्वयं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट न होने पर भी उन निर्ग्रन्थ मुद्रा से भ्रष्ट साधुओं के चरण युगल में पड़ते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं और साथ ही यह जानते हैं कि ये साधु होने पर भी पूर्व मुद्रा गृहस्थ भेष को ही धारण करने वाले हैं तथा जिनमुद्रा वीतराग निर्ग्रन्थ मुद्रा का विघात करने वाले हैं,अतः नमस्कार के योग्य नहीं हैं, मात्र लज्जा, रस, ऋद्धि और सात इन तीन गारव से अथवा यह राज्य मान्य है, नमस्कार न करने पर कुछ उपद्रव करा देगा इत्यादि भय से नमस्कार करते हैं वे उनको उस पाप की अनुमोदना करने वाले हैं अतः उनके रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती। अर्थात् वे रत्नत्रय के पालक होकर भी रत्नत्रय से भ्रष्ट हैं।

अपनी आत्मा स्वयं आपको देखनी होगी। गुरु भी आत्मा को नहीं दिखा सकेंगे, सिर्फ आत्मा की बात बता सकेंगे। आत्मा दिखाने की वस्तु नहीं है, देखने की वस्तु है।

निर्ग्रन्थ-मुद्रा के अनादर का फल

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।।।१०३।।

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
ये गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।।१०४

दर्शनापहुड २४, २५

निस्संग नग्न मुनि से चिढ़ता सदा है, मात्सर्य भाव उनसे रखता मुधा है।
मिथ्यात्व मंडित वही मति मूढ़ मोही, वैरी रहा नियम संयम का विरोधी।।

शीलादि के सदन हैं मुनि के गुणों के, जो वन्द्य खेचर नरों असुरों सुरों के।
ऐसे दिगम्बर जिन्हें लख गर्व धारें, सम्यक्त्व से स्खलित वे नर सर्व सारे।।

अन्वयार्थ - (**मच्छरिओ**) मात्सर्य भाव से (**जो**) जो (**सहजुप्पण्णं रूवं**) सहजोत्पन्न रूप-दिगम्बर मुद्रा को (**दट्ठू**) देखकर उसे (**ण मण्णए**) नहीं मानता अथवा उनका आदर नहीं करता है (**सो**) वह (**संजमपडिवण्णो**) संयम प्रतिपन्न होते हुये भी (**एसो**) ऐसा (**मिच्छाइट्ठी**) मिथ्यादृष्टि (**हवइ**) होता है।

(**अमराण**) देवों द्वारा भी (**वंदियाणं**) वन्दनीय (**सील सहियाणं**) शील से सहित (**रूवं दट्ठूण**) निर्ग्रन्थ मुद्रा को देखकर (**गारवं**) गर्व (**करंति**) करते हैं वे (**सम्मत्तविवज्जिया होंति**) सम्यक्त्व से रहित होते हैं।

अर्थ - मात्सर्य भाव से जो सहजोत्पन्न रूप-दिगम्बर मुद्रा को देखकर उसे नहीं मानता अथवा उनका आदर नहीं करता है। वह संयम प्रतिपन्न होते हुए भी ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है।

देवों द्वारा भी वन्दनीय शील से सहित निर्ग्रन्थ मुद्रा को देखकर गर्व करते हैं वे सम्यक्त्व से रहित होते हैं।

भावार्थ - मात्सर्य भाव (ईर्ष्या) के कारण जो व्यक्ति सहजोत्पन्न निर्ग्रन्थ / दिगम्बर-मुद्रा को देखने के योग्य नहीं मानता अथवा उनका आदर नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि होता है, चाहे वह संयमी ही क्यों न हो।

जो देवों द्वारा भी वन्दनीय, व्रत, शील, तप, संयम से युक्त हैं ,ऐसे जिन मुद्राधारी नग्न दिगम्बर रूप को देखकर, जो उनकी वन्दना सेवा नहीं करते, महामुनियों से द्वेष रखते हैं वे महापातकी सम्यग्दर्शन रत्न से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि होते हैं। वे दीर्घ काल तक संसार में भटकते रहते हैं। कहा भी है-जो दिगम्बर मुद्रा को नहीं मानते हैं उनकी उपासना वैयावृत्य और अर्चना नहीं करते हैं उनके सूर्योदय होने पर भी अन्धकार ही रहता है ।

तू तटस्थ होकर देख, देखना-जानना स्वभाव है तेरा लेकिन चलाकर नहीं। चलाकर देखना राग का प्रतीक है। जो हो रहा है उस होते हुये को देखिये जानिये मगर बिगड़िये।

मुक्ति के पथ पर भागो नहीं, ठहरो, स्थिर हो जाओ क्योंकि भागने में आकुलता है और ठहरने में आनन्द। ठहरना ही वास्तव में विश्राम है।

दुनिया से क्या बचना ? कितना बचना ? क्या क्या बचा पाओगे ? अतः स्वयं को राग-द्वेष से बचाना ही परम पुरुषार्थ है।

आत्मबोध को होने पर संयम कभी बोझ नहीं लग सकता। जो उसे बोझ रूप महसूस करते हैं, उन्होंने अभी आत्मज वैभव को सही-सही नहीं समझा।

वीतरागता को थोपा नहीं जाता, उसे अन्दर जाग्रत किया जा सकता है।

संयमी को दोषी कहने वाला भ्रष्ट होता है

जो कोवि धम्मसीलो संजम तव णियम जोय गुण धारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति॥ १०५॥

दर्शनपाहुड ९

धारा स्वयं नियम संयम भोगहारी, मूलोत्तरादि गुण ले तप योग धारी।
ऐसे सुधर्म रत को कुछ भ्रष्ट वैरी, दोषी सुसिद्ध करते मुनि धर्म वैरी॥

अन्वयार्थ - (**जो कोवि**) जो कोई (**धम्मसीलो**) धर्मशील (**संजम तव णियम जोय गुण धारी**) संयम, तप, नियम और योग आदि गुणों का धारक है (**तस्स**) उसके (**दोस**) दोषों का (**कहंता**) कहने वाला (**भग्गा**) स्वयं भ्रष्ट है (**य**) तथा (**भग्गत्तणं दिंति**) दूसरों को भी भ्रष्ट बनाता है।

अर्थ - जो कोई धर्मशील संयम, तप, नियम और योग आदि गुणों का धारक है उसके दोषों का कहने वाला स्वयं भ्रष्ट है तथा दूसरों को भी भ्रष्ट बनाता है।

भावार्थ - जो धर्म शील, धर्म के अभ्यासी संयम तप, नियम, योग और चौरासी लाख उत्तर गुणों के धारी महापुरुषों के दोष कहते हैं, उनमें मिथ्या दोषों का आरोप करते हैं वे चारित्र से पतित हैं तथा दूसरों को भी पतित करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव जब किसी के विद्यमान दोषों को भी नहीं कहना चाहता तब अविद्यमान कल्पित दोषों को कैसे कहेगा? किसी के दोष कहने पहले यदि मनुष्य आत्म निरीक्षण कर ले अर्थात् यह दोष मुझमें तो नहीं हैं, इस प्रकार का चिन्तन कर ले तो उसकी परदोष कथन की प्रवृत्ति सहज ही छूट सकती है। आज दूसरे के दोष कहने वाले मनुष्य अपनी ओर तो देखते ही नहीं हैं मात्र दूसरे के ही दोष देखा करते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने ऐसे लोगों के विषय में कितना अच्छा कहा है कि जो दूसरों के छोटे छोटे से दोष ढूँढने में सदा जागृत रहते हैं और अपने हाथी जैसे बड़े-बड़े दोषों के प्रति नेत्र बंद कर लेते हैं, वे मोक्षमार्ग में क्या कर सकते हैं? हे भगवन् वे आपके मत-धर्मरूपी लक्ष्मी के अपात्र हैं। जैनधर्म का अंश भी उनकी आत्मा में जागृत नहीं हुआ है।

तीन लिङ्ग कथन

एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंग दंसणं णत्थि॥ १०६॥

दर्शनपाहुड १८

है आद्यलिंग जिन लिंग असंग भाता, दूजा सुक्षुल्लक व ऐलक का कहाता।
है आर्यिका पद जघन्य जिनेश गाया, चौथा न लिंग जिन दर्शन में बताया।।

अन्वयार्थ - (**एगं जिणस्स रूवं**) एक जिनेन्द्र भगवान का रूप (**बीयं**) दूसरा (**उक्किट्ठसावयाणं**) उत्कृष्ट श्रावकों का (ऐलक, क्षुल्लक) (**तु**) और (**तइयं**) तृतीय (**अवरट्ठियाण**) जघन्य स्थान में स्थित (आर्यिका एवं क्षुल्लिका) इस प्रकार (**चउत्थ लिंग**) चौथा लिङ्ग (**दंसणं णत्थि**) जिनशासन में नहीं है।

अर्थ - एक जिनेन्द्र भगवान् का रूप दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का (ऐलक, क्षुल्लक) और तृतीय जघन्य स्थान में स्थित (आर्यिका एवं क्षुल्लिका) इस प्रकार जिनशासन में तीन ही लिङ्ग होते हैं, चौथा लिङ्ग नहीं होता है।

भावार्थ - जिनमत में तीन ही लिङ्ग बतलाये गये हैं। प्रथम लिङ्ग जिनेन्द्र भगवान के रूप वाला निर्ग्रन्थ-लिङ्ग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों (ऐलक-क्षुल्लक) का लिङ्ग और जघन्य स्थान में स्थित आर्यिकाओं एवं क्षुल्लिकाओं का तृतीय लिङ्ग है। इनके अतिरिक्त कोई चौथा लिङ्ग जिनमत में स्वीकार नहीं किया गया है।

नोट- इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने श्वेताम्बर साधुओं के उस लिङ्ग को जिनागम से असम्मत बताया है जिसमें परिग्रह त्याग महाव्रत की प्रतिज्ञा लेकर भी वस्त्र धारण किया जाता है ।

पहले विश्व को भूलो और आत्मा को जानो। जब आत्मा को जान जाओगे तो विश्व स्वयं प्रगट हो जायेगा।

जिनलिङ्ग में उपकरण

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं॥ १०७॥

प्रवचनसार ३-२५

आदर्श की विनय हो गुरु देशना हो, हो नग्नकाय शिशु सा फिर लेश न हो।
बोधानुसार जिन आगम वाचना हो, ये बाह्य-साधन रहे शिवसाधना हो॥

अन्वयार्थ - (**जहजादरुवं**) यथाजात रूप (**जन्मजात नग्न**) जो लिङ्ग वह (**जिणमग्गे**) जिनमार्ग में (**उवयरणं इदि भणिदं**) उपकरण कहा गया है, (**गुरुवयणं**) गुरु के वचन (**सुत्तज्झयणं च**) सूत्रों का अध्ययन (**य**) और (**विणओ पि**) विनय भी (**णिद्दिट्ठं**) उपकरण कही गयी है।

अर्थ - यथाजात रूप जो लिङ्ग वह जिनमार्ग में उपकरण कहा गया है, गुरु के वचन सूत्रों का अध्ययन और विनय भी उपकरण कही गयी है।

भावार्थ - जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग में यथाजातरूप निर्ग्रन्थ-मुद्रा, गुरुओं के वचन (पूज्य गुरुओं के वचनानुसार प्रवृत्ति), विनय (गुणाधिक मुनियों के प्रति विनय) तथा सूत्र (आगम) का अध्ययन, ये चार उपकरण बतलाये हैं।

जिस परिग्रह का अपवाद मार्ग में निषेध नहीं किया गया है, वह सभी परिग्रह यति अवस्था का सहायक है, इसलिये उपकारी है, अन्य परिग्रह नहीं है। उस मुनि के योग्य परिग्रह के भेद इस प्रकार हैं, कि सब वस्त्र, आभूषण आदि से रहित सहज स्वाभाविक सुंदर यथाजात रूप बाह्य द्रव्य लिङ्ग स्वरूप काय योग सम्बन्धी पुद्गल, एक तो यह उपकरण हैं, और शुद्धात्म तत्त्व के प्रकाशक जो वचनात्मक पुद्गल हैं, उनको गुरु के पास से सुनता है, तथा जो अनादि अनंत शुद्धात्म तत्त्व का प्रगट करने वाला श्रुति ज्ञान हैं, उसके वचन स्वरूप जो सूत्र पुद्गल है, उनको पढ़ता है, ये भी उपकरण हैं और जिन महापुरुष मुनीश्वरों के ज्ञानादि भाव प्रगट हुये हैं, उनमें विनय रूप परिणत हुये जो चित्त पुद्गल हैं, ये भी उपकरण हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई कि मुनि को जैसे शरीर में ममता भाव का निषेध है, उसी तरह वचन, मन का भी निषेध है, क्योंकि ये भी वस्तु के धर्म नहीं हैं, इसलिये त्याज्य है, इनसे ही अपवाद मार्गी मुनि कहलाते है, उत्सर्ग मार्ग इनसे रहित है।

द्वितीय उत्कृष्ट लिङ्ग के भेद

दुइयं च उत्तलिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण॥ १०८॥

सूत्रपाहुड २१

जो भोजनार्थ भ्रमते मन मौन पालें, किंवा सुवाक् समिति पर पात्रधारें।
सिद्धान्त में कथित वो गृहत्यागियों का, दूजा सुलिंग परमोत्तम श्रावकों का॥

अन्वयार्थ - (**दुइयं उत्तलिंगं**) दूसरा उत्कृष्ट लिङ्ग (**उक्किट्ठं च अवरसावयाणं**) उत्कृष्ट तथा जघन्य श्रावकों का है जो (**भिक्खं**) भिक्षा के लिये (**पत्ते**) पात्र लेकर (**भासेणसमिदी**) भाषासमिति व (**मोणेण**) मौनपूर्वक (**भमेइ**) भ्रमण करता है।

अर्थ - दूसरा उत्कृष्ट लिङ्ग उत्कृष्ट तथा जघन्य श्रावकों का है जो भिक्षा के लिये पात्र लेकर भाषासमिति व मौनपूर्वक भ्रमण करता है।

भावार्थ - मुनि लिङ्ग के सिवाय दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावक का कहा गया है। प्रतिमाओं की अपेक्षा श्रावकों के ग्यारह भेद हैं उनमें प्रारम्भ की छह प्रतिमाओं के धारक मनुष्य गृहस्थ श्रावक कहलाते हैं और आगे की पाँच प्रतिमाओं के धारक अगृहस्थ श्रावक माने जाते हैं। अगृहस्थ श्रावकों में दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। परन्तु दशम प्रतिमाधारी श्रावक का कोई लिङ्ग-वेष नहीं होता अतः यहाँ उत्कृष्ट श्रावक-क्षुल्लक अथवा ऐलक भिक्षा के लिये भ्रमण करता है यह पात्र से सहित होता है अर्थात् पात्र में भोजन करता है और ऐलक की अपेक्षा हस्तपुट में ही भोजन करता है। मूल गाथा के अनुसारभाषा समिति से बोलता है अथवा मौन पूर्वक भ्रमण करता है। परन्तु संस्कृत टीका के अनुसार यह उत्कृष्ट श्रावक ईर्या समिति से चलता है और मौन रखकर ही भ्रमण करता है।

सही रूप की प्राप्ति किसी को तब तक नहीं होती
जब तक अपने स्वरूप की पहचान नहीं होती।

तृतीय आर्यिका लिङ्ग

लिंगं इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ॥ १०९॥

सूत्रपाहुड २२

आहार बैठ कर में इक बार पा ले, आर्या सवस्त्र वह भी इक वस्त्र धारे।
स्त्री का तृतीय वर लिंग यही कहाता,चौथा न लिंग मिलता जिनशास्त्र गाता।।

अन्वयार्थ - तृतीय (**लिंगं**) लिङ्ग (**इत्थीणं**) स्त्रियों का (**हवदि**) होता है। [जो] (**सुएयकालम्मि**) एक बार (**पिंडं भुंजइ**) आहार ग्रहण करती हैं (**अज्जिय**) आर्यिका (**एक्कवत्था**) एक वस्त्र रखती है तथा (**वत्थावरणेण**) वस्त्र सहित ही (**भुंजेइ**) भोजन करती है।

अर्थ - तृतीय लिङ्ग स्त्रियों का होता है। जो एक बार आहार ग्रहण करती हैं आर्यिका एक वस्त्र रखती हैं तथा वस्त्र सहित ही भोजन करती हैं।

भावार्थ - स्त्रियों में उत्कृष्ट भेष को धारण करने वाली आर्यिका और क्षुल्लिका होती हैं दोनों ही दिन में एक बार आहार ग्रहण करती हैं। आर्यिका मात्र एक वस्त्र - सोलह हाथ की एक सफेद साड़ी रखती हैं और क्षुल्लिका एक साड़ी के सिवाय एक ओढ़ने की चद्दर रखती हैं भोजन करते समय एक साड़ी रखकर ही दोनों भोजन करती हैं अर्थात् आर्यिका के पास तो एक साड़ी है पर क्षुल्लिका ऊपर का वस्त्र चद्दर उतारकर भोजन करती हैं।

शरीर के प्रति वैराग्य और जगत के प्रति संवेग ये दोनों ही बातें आत्म कल्याण के लिये आवश्यक हैं।

पर को नियंत्रित करने की मन की इच्छा गलत है बल्कि स्वयं को नियन्त्रित करना ही वास्तविक पुरुषार्थ।

स्त्री को प्रव्रज्या का निषेध

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया॥ ११०॥

सूत्रपाहुड २५

सम्यक्त्व मंडित सही शुचि दर्पणा है,स्त्री योग्य संयम लिये तज दर्पणा है।
घोरातिघोर दृढ़ चारित से सुहाती,स्त्री में तथापि प्रव्रजा न कदापि भाती॥

अन्वयार्थ - (**जइ**) यदि स्त्री (**दंसणेण सुद्धा**) सम्यग्दर्शन से शुद्ध है (**सा**) वह (**वि**) भी (**मग्गेण**) मोक्षमार्ग से (**संजुत्ता**) संयुक्त (**उत्ता**) कही गयी है परन्तु (**घोरं**) घोर (**चरिय**) चारित्र के (**चरित्तं**) आचरण करने पर भी (**इत्थीसु**) स्त्रियों को (**पव्वया**) प्रव्रज्या (जिनदीक्षा) (**ण**) नहीं (**भणिया**) कही गयी है।

अर्थ - यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वह भी मोक्षमार्ग से संयुक्त कही गयी है परन्तु घोर चारित्र के आचरण करने पर भी स्त्रियों को प्रव्रज्या (जिनदीक्षा) नहीं कही गयी है।

भावार्थ - यदि स्त्री सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से शुद्ध (सहित) है, तो वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी मोक्ष मार्ग से युक्त होती हुई पंचम गुणस्थान को प्राप्त होती है। तथा स्त्रीलिङ्ग छेदकर स्वर्ग के अग्रभाग में देव होती है वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्य भव प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होती है

सम्यग्दर्शन से शुद्ध चाण्डाल को भी गणधरादिक देव, भस्म से छिपे हुए अङ्गार के समान अभ्यन्तर तेज से युक्त देव कहते हैं। स्त्री यदि स्वर्ग भी जाती है तो स्त्री लिङ्ग को प्राप्त नहीं होती। यह भी महाकवि समन्तभद्र ने कहा है- सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य व्रत रहित होने पर भी नरक, तिर्यञ्च, नपुंसक, स्त्री पर्याय, नीच-कुल, विकलाङ्ग-अवस्था, अल्प आयु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते।

स्त्री, भीरु-मनुष्य को भय उत्पन्न करने वाले चरित्र का आचरण करके सोलह स्वर्गों को प्राप्त होती है। स्त्रियाँ स्त्रीभव में जब अहमिन्द्रपद को प्राप्त नहीं कर सकतीं तब मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती हैं? इसी कारण से स्त्रियों में निर्वाण प्राप्ति के योग्य दीक्षा नहीं कहीं गई है। इस गाथा से श्वेताम्बरीय स्त्री मुक्ति मत का निराकरण हो जाता है। मरुदेवी, ब्राह्मी, सुन्दरी, यशस्वती, सुनन्दा, सुलोचना, सीता, राजीमति, चन्दना, अनन्तमति तथा द्रौपदी आदि स्त्रियाँ स्वर्ग गई हैं, मोक्ष नहीं गई हैं।

परन्तु घोर चारित्र के आचरण करने पर भी स्त्रियों को प्रव्रज्या (जिनदीक्षा) नहीं कही गयी है।

तिलओसत्तणिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं॥ १११॥

बोधपाहुड ५५

अत्यन्त भी विषय राग नहीं रहा है, ना बाह्य का ग्रहण संग्रह भी रहा है।
दीक्षा उन्हीं श्रमण की जिन है बताते,जो जानते निखिल को लखते सुहाते।।

अन्वयार्थ - जिसमें (तिलओसत्तणिमित्तं) तिल तुष के अग्रभाग के (सम) बराबर (बहिरगंथसंगहो णत्थि) बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं है।(एसा) वही (पवज्ज) प्रव्रज्या [जिनदीक्षा] (हवइ) है (जह) इस प्रकार (सव्वदरसीहिं) सर्वदर्शी - जिनेन्द्र भगवान् ने (भणिया) कहा है।

अर्थ - जिसमें तिल तुष के अग्रभाग के बराबर बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं है। वही प्रव्रज्या [जिनदीक्षा] है इस प्रकार सर्वदर्शी-जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

भावार्थ - जिस प्रव्रज्या में तिल प्रमाण परिग्रह के संग्रह करने की इच्छा रूप अंतरंग परिग्रह और तिलतुष मात्र बाह्य परिग्रह नहीं है वही सर्वदर्शी देव के द्वारा कथित परमार्थ प्रव्रज्या है। जो अपवाद मार्ग कह कर साधुओं के लिये वस्त्र आदि ग्रहण करने का विधान करते हैं, वे जिनधर्म से बाह्य हैं । उनका सूत्र जिनदेव कथित नहीं बल्कि कल्पित है, स्वेच्छा रचित है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सूत्रपाहुड़ की १८ वीं गाथा में कहा है

जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं नग्न मुद्रा धारण कर जो तिलतुष मात्र परिग्रह रखता है वह निगोद में जाता है अतः प्रव्रज्या परिग्रह रहित होती है।

एकान्त में शान्त चित्त से एकत्व का चिन्तन जब तक नहीं चलता तब तक संसारी प्राणी की दीनता समाप्त नहीं हो सकती क्योंकि एकत्व अनुप्रेक्षा मे अपना सारा आत्म साम्राज्य सामने आता है फिर दीनता की कोई बात ही शेष नहीं रह जाती है।

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए॥ ११२॥
अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय॥ ११३॥

सूत्रपाहुड ११,१३

संयुक्त साधु नियमों यम संयमों से, उन्मुक्त बाधक परिग्रह-संगमों से।
हो वन्द्य वे नर सुरासुरलोक में है, ऐसा कहें जिनप, नाथ त्रिलोक में हैं॥
सम्यक्त्व बोध युत हैं जिनलिंग धारी, जो शेष देश-व्रत पालक वस्त्रधारी।
इच्छामि मात्र करने बस पात्र वे हैं, ऐसा नितान्त कहते जिन शास्त्र ये हैं॥

अन्वयार्थ - (जो) जो मुनि (संजमेसु सहिओ) संयम से सहित है (आरम्भ परिग्गहेसु विरओ) आरम्भ और परिग्रह से विरत है (सो) वह (ससुरासुरमाणुसे) सुर असुर और मनुष्यों से (लोए वंदणीओ) लोक में वंदनीय (होइ) होता है।

(अवसेसा जे लिंगी) मुनिमुद्रा के सिवाय जो अन्य लिंग हैं (दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से संयुक्त हैं (य) तथा (चेलेण परिगहिया) वस्त्र रूपी परिग्रह से सहित हैं (ते) वे (इच्छणिज्जाय) इच्छाकार के योग्य (भणिया) कहे गये हैं।

अर्थ - जो मुनि संयम से सहित है, आरम्भ और परिग्रह से विरत है। वह सुर,असुर और मनुष्यों से लोक में वंदनीय होता है।

मुनिमुद्रा के सिवाय जो अन्य लिङ्ग हैं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से संयुक्त हैं तथा वस्त्र रूपी परिग्रह से सहित हैं वे इच्छाकार के योग्य कहे गये हैं।

भावार्थ - इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम के भेद से संयम के दो भेद हैं। सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि को आरम्भ कहते हैं तथा क्षेत्र, मकान आदि को परिग्रह कहते हैं। जो मुनि इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम से सहित हैं तथा आरम्भ-परिग्रह से विरक्त हैं, साथ ही ब्रह्मचर्य आदि गुणों से युक्त हैं वही

लोक में देव, असुर तथा मनुष्यों से वंदनीय हैं। इसके सिवाय असंयमी, आरम्भ और परिग्रह के जाल में फंसे हुए अन्य साधु सम्यग्दृष्टि के द्वारा वन्दना करने योग्य नहीं है।

दिगम्बर मुनि मुद्रा के सिवाय अन्यलिङ्गधारी-ऐलक, क्षुल्लक, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से संयुक्त हैं। ऐलक एक वस्त्र-कोपीन के धारक हैं और क्षुल्लक कोपीन के सिवाय एक वस्त्र अतिरिक्त भी रखते हैं । इनका यह वस्त्र सिला हुआ नहीं होता है, खण्डवस्त्र कहलाता है अर्थात् इतना छोटा होता है कि शिर ढके तो पैर नहीं ढके, पैर ढके तो शिर नहीं ढके । ऐसे ऐलक और क्षुल्लक इच्छाकार के योग्य कहे गये हैं अर्थात् उन्हें नमस्कार करते समय इच्छामि या इच्छाकार शब्द का उच्चारण करना चाहिये ।

पानी की तेज धार जैसे बड़े-बड़े पाषाण खण्डों को भी बहा ले जाती है ठीक इसी तरह मोह भी एक प्रबल धारा के समान है जिसमें बड़े-बड़े साधक भी बह जाते हैं। जिसका जीवन साफ-सुथरा है वही इस धारा को पार कर सकता है।

संयम की ढाल को अपने हाथ में लेकर ज्ञान की तलवार चलाने से अनंतकालीन कर्मों की फौज, जो कि भीतर साम्राज्य किये बैठी है, छिन्न-भिन्न हो जाती है।

आत्म तत्त्व की उपलब्धि के लिये गहराई में उतरना पड़ता है। जो केवल तट पर ही बैठे रहते हैं उन्हें मात्र लहरें ही हाथ लगती हैं, मोती केवल गहराई में ही मिल पाते हैं।

बहुत हो गया बाहरी परिचय, और कितना ? कब तक?अब तो चेतो हे चेतन ! और अपने को पहचानो।

लिङ्ग मात्र से मुक्ति नहीं

पाखंडीलिंगाणि य गिहिलिंगाणि य बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति॥ ११४॥
ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते॥ ११५॥

समयसार ४३२, ४३३

ये दीखते जगत में मुनि साधुओं के, हैं भेष, नैक विधि भी गृहवासियों के।
वे अज्ञ मूढ़ इनको जब धारते हैं, है मोक्ष मार्ग यह यों बस मानते हैं॥
पर्याप्त केवल नहीं तन नग्नता है, तू मान पंथ शिव का निज मग्नता है।
होते निरीह तन से अरिहन्त तातै, चारित्र-बोध-दृग लीन स्वगीत गाते॥

अन्वयार्थ - (**बहुप्पयाराणि**) अनेक प्रकार के (**पाखंडी लिंगाणि य**) साधुओं के भेष (**य**) और (**गिहिलिंगाणि**) गृहस्थ के भेष (**घित्तुं**) ग्रहण करके (**मूढा**) अज्ञानीजन (**त्ति**) यह (**वदंति**) कहते हैं कि (**इणं लिंगं**) यह भेष ही (**मोक्खमग्गो**) मोक्ष का मार्ग है।

(**लिंगं**) द्रव्यलिङ्ग (**मोक्खमग्गो**) मोक्ष का मार्ग (**ण य होदि**) नहीं हो सकता (**जं**) क्योंकि (**देहणिम्ममा**) देह से निर्ममत्व अरहंत भगवान द्रव्यलिङ्ग का आधार जो शरीर है उससे मन, वचन, काय से (**मुइत्तु**) ममत्व भाव छोड़कर (**दंसण णाण चरित्ताणि**) दर्शन, ज्ञान, चारित्र को (**सेवंते**) सेवन करते हैं।

अर्थ - अनेक प्रकार के साधुओं के भेष और गृहस्थ के भेष ग्रहण करके अज्ञानीजन यह कहते हैं कि यह भेष ही मोक्ष का मार्ग है।

द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता क्योंकि देह से निर्ममत्व अरहंत भगवान् द्रव्यलिङ्ग का आधार जो शरीर है उससे मन, वचन, काय से ममत्व भाव छोड़कर दर्शन, ज्ञान, चारित्र को सेवन करते हैं।

भावार्थ - मुनिलिङ्ग तथा बहुत प्रकार के गृहस्थ लिङ्गों को धारणकर मूढ़-अज्ञानी लोग कहते हैं कि द्रव्यलिङ्ग (बाह्यभेष) ही मोक्षमार्ग है, परन्तु भावलिङ्ग रहित मात्र द्रव्यलिङ्ग ही मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि अरहंतदेव

भी द्रव्यलिङ्ग के आश्रयभूत देह (शरीर) से निर्ममत्व होते हुए दर्शन-ज्ञान और चारित्र रूप आत्मा की उपासना करते हैं।

द्रव्यलिङ्ग का आधार शरीर है। केवल शरीर की ओर ही दृष्टि रखने के कारण मोक्ष के लिए साक्षात् कारणभूत अभेदरत्नत्रय रूप शुद्धात्मानुभूति से आत्मा स्खलित हो जाती है। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि द्रव्यलिङ्ग मात्र ही मोक्षमार्ग नहीं है अपितु उस लिङ्ग/शरीर के आधार से रहने वाला जो रत्नत्रय है, उसी से मोक्ष प्राप्त होता है। अतएव भाव सहित उस द्रव्यलिङ्ग को स्वीकार कर उसके माध्यम से अभेद रत्नत्रय को प्राप्त कर उसमें स्थिरता प्राप्ति के लिए सदा प्रयासरत रहना चाहिये।

अब भावलिङ्ग का आधारभूत नग्न-लिङ्ग ही मोक्ष का मार्ग है, इसे कहते हैं।

आज भविष्य के बारे में चिन्ता है और भूत के साथ उसकी तुलना हो रही है जबकि वर्तमान पुरुषार्थ खोता जा रहा है।

हम भले ही शुद्ध-शुद्ध की चर्चा करते जायें कि आत्मा शुद्ध है हम शुद्धाम्नाय वाले हैं किन्तु भगवान् कहते हैं कि जिसका आचरण शुद्ध है उसकी आम्नाय शुद्ध है जिसका आचरण शुद्ध नहीं उसकी आम्नाय भी शुद्ध नहीं ।

चाहे हुये अपेक्षित कार्य के सफल न होने पर हमेशा अशान्ति होती है अतः मात्र अपेक्षा न रखें किन्तु अपेक्षित कार्य सफल हो ऐसा पुरुषार्थ भी करें।

आत्म विकास के लिये वीतराग स्वसंवेदन की आवश्यकता है। स्वसंवेदन के माध्यम से हम उस तत्त्व को देख सकते हैं जिसे आज तक नहीं देखा।

वस्त्रधारी को मोक्ष नहीं

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥ ११६॥

सूत्रपाहुड २३

सद्दृष्टि तीर्थकर हों घर में भले ही, जो वस्त्र धारक जिन्हें शिव ना मिले ही।
निर्ग्रन्थ मोक्ष पथ हो, अवशिष्ट सारे, संसार पंथ, तजते समदृष्टि वाले॥

अन्वयार्थ - (**जिणसासणे**) जिनशासन में कहा है कि (**वत्थधरो ण सिज्झइ**) वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। (**तित्थयरो जइ वि होइ**) वह तीर्थंकर भी क्यों न हो। (**णग्गो विमोक्खमग्गो**) नग्नभेष ही मोक्षमार्ग है (**सेसा सव्वे उम्मग्गया**) शेष सब उन्मार्ग हैं, मिथ्यामार्ग हैं।

अर्थ - जिनशासन में कहा है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। वह तीर्थंकर भी क्यों न हो। नग्नभेष ही मोक्षमार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं, मिथ्यामार्ग हैं।

भावार्थ - जिनशासन में कहा गया है कि वस्त्रधारी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता, यदि तीर्थंकर भी हो अर्थात् गर्भावतरण आदि पंच कल्याणकों के धारक तीर्थंकर परम देव भी हों तो भी वस्त्र के धारक होते हुए स्वात्मोपलब्धि रूप लक्षण से युक्त सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकते । जब तीर्थंकर भी सवस्त्र अवस्था में सिद्ध नहीं हो सकते तब अन्य अनगार केवली आदि की बात तो दूर रही। वस्त्राभूषण से रहित नग्न भेष ही विशिष्ट मोक्ष का मार्ग है, ऐसा जानना चाहिये । श्वेताम्बरादिकों के मत उन्मार्ग रूप हैं, निन्दनीय हैं और मिथ्यारूप हैं, ऐसा विद्वानों को जानना चाहिये ।

मोक्ष पुरुषार्थ किसी वर्ग में सम्मिलित नहीं है इसलिये इस संस्कृत में अपवर्ग कहते हैं परन्तु धर्म, अर्थ और काम आपस में सम्बद्ध है इसलिये इन्हें त्रिवर्ग कहते हैं। मोक्ष अकेला और ये तीन, फिर भी मोक्ष का सामर्थ्य देखो वह अकेला ही तीनों को समाप्त कर देता है।

समताहीन श्रमण की क्रियायें निरर्थक

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स॥ ११७॥

नियमसार १२४

मासोपवास करना वनवास जाना, आतापनादि तपना तन को सुखाना।
सिद्धान्त का मनन मौन सदा निभाना, ये व्यर्थ हैं श्रमण के, बिन साम्य बाना॥

अन्वयार्थ - (**समदारहियस्स**) समता से रहित (**समणस्स**) श्रमण के लिये (**वणवासो**) वन में रहना (**कायकिलेसो**) कायक्लेश करना (**विचित्तउववासो**) अनेक उपवास करना (**अज्झयणमोण पहुदी**) अध्ययन करना और मौन आदि करना (**किं काहदि**) ये सब क्या कर सकेंगे।

अर्थ - समता से रहित श्रमण के लिये वन में रहना कायक्लेश करना अनेक उपवास करना अध्ययन करना और मौन आदि करना ये सब क्या कर सकेंगे।

भावार्थ - सुख - दुख, जीवन-मरण, मित्र और शत्रु आदि में राग-द्वेष परिणति रहित भाव समता भाव है, उससे रहित दिगम्बर मुनि के लिये वन में, शून्यागार में, पर्वत के शिखर, गुफा, श्मशान आदि में निवास करना क्या करेगा ? अन्य भी वृक्ष मूल, अभ्रावकाश, आतापन और सूर्याभिमुख योग, कुक्कुटासन, मकरासन और वीरासन आदि के द्वारा काय को क्लेश करने वाले जो तप होते हैं, वे सभी कायक्लेश कहलाते हैं। वह कायक्लेश भी क्या करेगा ?

सर्वतोभद्र, कनकावली, मेरूपंक्ति, सिंहनिष्क्रीडित आदि अनेक प्रकार के उपवास और ग्यारह अंग पर्यंत अध्ययन तथा मौन आदि भी समता रहित साधु के लिये क्या करेंगे ? अर्थात् ये सब कुछ भी नहीं करेंगे।

कैसा भी कर्म का उदय में आ जाये अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, उसमें भी अन्दर विश्वास तो यह है कि अब नियम से कूल-किनारा मिलेगा। इसी परिणति का नाम श्रामण्य है।

गुण ही वन्दनीय हैं

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइ संजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ॥ ११८॥

दर्शनपाहुड २७

ये जाँत-पाँत कुल भी नहीं वन्द्य होते, ना वन्द्य भी तन रहा गुण वन्द्य होते।
कोई रहे श्रमण श्रावक निर्गुणी है, वे वन्दनीय नहिं हैं कहते गुणी है।।

अन्वयार्थ - (**ण वि देहो वंदिज्जइ**) न शरीर की वंदना की जाती है (**ण वि य कुलो**) न कुल की वंदना की जाती है (**ण वि य जाइ संजुत्तो**) न ही जाति से युक्त की वंदना की जाती है (**को गुणहीणो वंदमि**) कौन गुणहीन की वंदना करता है? क्योंकि गुणहीन मनुष्य (**ण हु सवणो णेव सावओ होइ**) न मुनि है और न श्रावक ही है।

अर्थ - न शरीर की वंदना की जाती है न कुल की वंदना की जाती है न ही जाति से युक्त की वंदना की जाती है कौन गुणहीन की वंदना करता है? क्योंकि गुणहीन मनुष्य न मुनि है और न श्रावक ही है।

भावार्थ - न तो किसी का शरीर पूजा जाता है, न कुल-पितृपक्ष पूजा जाता है और न जाति-मातृ पक्ष पूजा जाता है किन्तु संयमरूप गुण ही पूजा जाता है। जिसमें संयम नहीं है वह सुन्दर स्वरूथ शरीर, उच्चकुल और उच्चजाति वाला होकर भी अपूज्यनीय ही रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैं किस गुणहीन की वन्दना करूँ ? अर्थात् मैं किसी भी गुणहीन को वन्दना नहीं कर सकता। क्योंकि उत्कृष्ट संयम की प्रतिज्ञा लेकर उससे भ्रष्ट हुआ मनुष्य न मुनि कहलाता है और न श्रावक ही। वह तो सीधा असंयमी है अतः असंयमी होने से वन्दना के योग्य नहीं है।

यदि आकाश समुद्र के जल का पान एवं दान बंद कर दे तो स्वयं समुद्र काँप उठेगा। यदि धर्म, त्याग और दान कराना बंद कर दे तो मानव जीवन गंदगी और दुर्भावनाओं की अग्नि से जलकर खाक हो जायेगा।

श्रमण का नेत्र

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूहिं सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥ ११९॥

प्रवचनसार ३-३४

हैं इन्द्रियां चरम चक्षु चराचरों की, होती तथा अवधि चक्षु सुरासुरों की।
है सिद्ध की विमल केवल ज्ञान चक्षु, हो साधु की परमआगम मात्र चक्षु॥

अन्वयार्थ - (**साहू**) साधु (**आगमचक्खू**) आगमरूप चक्षु वाले हैं (**सव्वभूदाणि**) सर्वप्राणी (**इंदियचक्खूहिं**) इन्द्रिय चक्षु वाले हैं (**देवा य**) और देव (**ओहिचक्खू**) अवधि चक्षु वाले हैं (**पुण**) और (**सिद्धा**) सिद्ध (**सव्वदो चक्खू**) सब ओर से चक्षु वाले हैं।

अर्थ -साधु आगम रूप चक्षु वाले हैं, सर्व प्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले हैं और देव अवधि चक्षु वाले हैं, और सिद्ध सब ओर से चक्षु वाले हैं।

भावार्थ - संसार में जितने संसारी जीव हैं, वे सब अज्ञान से आच्छादित हैं, इस कारण परज्ञेय पदार्थों में मोहित हैं, ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान से रहित हैं, इससे इनके अतीन्द्रिय सबको देखने वाला नेत्र नहीं है ,सर्वदर्शी तो एक सिद्धभगवान् हैं, उस सिद्धपद की प्राप्ति के निमित्त जो मोक्षमार्गी महामुनि हैं, वे आगम नेत्र के धारक होते हैं, उस आगम नेत्र से स्वरूप पररूप का भेद करते हैं। यद्यपि ज्ञेय ज्ञान की परस्पर एकता हो रही है, भेद नहीं किया जाता है, तो भी आगम-नेत्र के बल से लक्षण भेद जुदा-जुदा किये जाते हैं, इस भेद विज्ञान की शक्ति से प्राणी महामोह को जीतता है, पीछे परमात्म तत्त्व को पाता है, तब निरन्तर अनन्तज्ञान में तिष्ठता है। इसलिये सर्वदर्शी सिद्ध पद के साधक, आगम को जानकर मुक्ति के इच्छुक महामुनि सबको आगम-नेत्र से देखते हैं, आगम बड़ा नेत्र है।

धर्म की प्रभावना परमत का खण्डन करते हुये नहीं । स्वमत का मण्डन करते हुये करना चाहिये।

मूलगुणों के विराधक को सिद्धि नहीं

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंग विराधगो णिच्चं॥ १२०॥

मोक्षपाहुड ९८

है दोष मूलगुण में मुनि हो लगाता,पै बाह्य उत्तर गुणादिक को निभाता।
पाता न सिद्धि सुख को बिन संग का है,होता विराधक निरा जिनलिंग का है॥

अन्वयार्थ - (**जो साहू**) जो साधु (**मूलगुणं**) मूलगुणों को (**छित्तूण**) छेदकर (**बाहिरकम्मं**) बाह्य कर्म (**करेइ**) करता है (**सो**) वह (**सिद्धिसुहं**) सिद्धि के सुख को (**ण लहइ**) नहीं प्राप्त करता है (**णिच्चं**) निरन्तर (**जिणलिंग विराधगो**) जिनलिङ्ग की विराधना करने वाला माना जाता है।

अर्थ - जो साधु अपने मूलगुणों की विराधना करता हुआ बाहरी कार्यों में अपने को लगाता है, उसे मोक्षसुख की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह नित्य ही जिनलिङ्ग की विराधना करने वाला माना गया है।

भावार्थ - पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पंचेन्द्रिय दमन, केशलोंच, छह आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े खड़े भोजन करना और एक बार भोजन करना ये मुनि के अट्ठाईस मूलगुण हैं। उक्त मूलगुणों को छेदकर अर्थात् उनमें दोष लगाकर जो साधु आतापन योग आदि बाह्य कार्य करता है। वह सिद्धि सुख-मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं करता है । वह निरन्तर जिनलिङ्ग की विराधना करने वाला माना गया है ।

धर्म के क्षेत्र में आस्था और सद्भावना के साथ यदि हम तप त्याग के छोटे-छोटे बीज भी बो देते हैं तो कुछ ही समय में वह शीतलता प्रदायी विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर लेता है।

श्रमण को स्त्रियों की दीक्षा आदि का निषेध

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि बीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो सवणो॥ १२१॥

लिङ्गपाहुड २०

विश्वास नारि जन में रखता, दिलाता, सम्यक्त्व ज्ञान व्रत भी उनको सिखाता।
पार्श्वस्थ से अधिक निंद्य रहा तथापि, होता नहीं श्रमण वन्द्य रहा कुपापी॥

अन्वयार्थ - जो श्रमण (**महिलावग्गम्मि**) महिलावर्ग में (**बीसट्ठो**) विश्वस्त होकर उन्हें (**दंसणणाणचरित्ते**) दर्शन, ज्ञान और चारित्र (**देदि**) देता है, वह (**पासत्थ**) पार्श्वस्थ मुनि से (**वि**) भी (**णियट्ठो**) निष्कृष्ट है तथा (**भाव विणट्ठो**) भावलिङ्ग से शून्य (**सो**) वह (**सवणो**) मुनि (**ण**) नही है।

अर्थ - जो श्रमण महिलावर्ग में विश्वस्त होकर उन्हें दर्शन, ज्ञान और चारित्र देता है, वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निष्कृष्ट है तथा भावलिङ्ग से शून्य वह मुनि नहीं है।

भावार्थ - जो श्रमण स्त्रियों मे विश्वस्त होकर उन्हें दर्शन, ज्ञान और चारित्र देता है, वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट है तथा भावलिङ्ग से शून्य है और परमार्थ मुनि नहीं है। प्रवचनसार में शुभोपयोगी श्रमण की प्रवृत्ति बतलाते हुए ''शिष्यों का ग्रहण तथा उनका पालन'' भी बतलाया गया है। शिष्यों में स्त्रियाँ भी आती हैं, क्योंकि जिनशासन में बतलाये गये तीन लिङ्गों में उनका भी एक लिङ्ग माना गया है। तब मन में प्रश्न उठ सकता है कि उपरोक्त कथन कैसे ठीक है? इसका समाधान आचार्यों ने आचार-शास्त्रों में बतलाया है कि स्त्रियों को दीक्षा, शिक्षा एवं प्रायश्चित्त आदि के देने का अधिकार केवल विशेष आचार्य को ही है। जैसा कि आचार्य वट्टकेर ने ''मूलाचार ग्रन्थ'' में कहा है -

''पियधम्मो दिढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो॥ १८३॥
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणहरो होवि॥ १८४॥

एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं।
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज॥'' १८५॥

अर्थात् - जो धर्म के प्रेमी हैं, धर्म में दृढ़ हैं, वे संवेगभाव सहित हैं, पाप से भीरु हैं, शुद्ध आचरण वाले हैं, शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह में कुशल हैं, दीक्षा, व्याख्यान आदि के द्वारा उनका उपकार करना तथा उनका प्रतिपालन करना, और हमेशा पापरूप क्रियाओं की निवृत्ति से युक्त है। तथा जो गंभीर हैं, स्थिर चित्त हैं, मित बोलने वाले हैं, चिर दीक्षित हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं, वे ही आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं।

इन गुणों से रहित आचार्य यदि आर्यिकाओं का आचार्यत्व करते हैं, तो उनके चार काल (गणपोषण काल, आत्म संस्कार काल, सल्लेखना काल तथा उत्तमार्थ काल) विराधित होते हैं, और गच्छ की विराधना हो जाती है। अतः जो कोई भी श्रमण इन उपरोक्त बातों को भूलकर स्त्रियों को दीक्षा, शिक्षा एवं प्रायश्चित्त आदि प्रदान करते हैं, वे पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट तथा भावलिङ्ग शून्य हैं और शीघ्र ही अपने चारित्र की विराधना कर लेते हैं।

(१) गणपोषण काल - शिक्षा के पश्चात् चरणानुयोग में कथित अनुष्ठान और उसके व्याख्यान के द्वारा पंचभावना सहित होता हुआ जब शिष्यगण का पोषण करता है ।

(२) आत्मसंस्कार काल - गणपोषण के पश्चात् अपने गण अर्थात् संघ को छोड़कर आत्म भावना के संस्कार का इच्छुक होकर पर संघ को जाता है ।

(३) सल्लेखना काल - आत्म संस्कार के अनन्तर आचाराधना में कथित क्रम से द्रव्य और भाव सल्लेखना करता है ।

(४) उत्तमार्थ काल - सल्लेखना के उपरान्त चार प्रकार की आराधना की भावना रूप समाधि को धारण करता है।

मोक्ष की ओर दौड़ लगाने वाला यह युग धर्म का नाम तो लेता है किन्तु धर्म की भावना नहीं रखता, सुख-शान्ति चाहते हुये भी उसके पथ पर चलना पसंद नहीं करता।

मुनि के परिग्रह का निषेध

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं॥ १२२॥

सूत्रपाहुड १८

है जात रूप शिशु सा मुनि धार भाता,अत्यल्प भी नहिं परिग्रह भार पाता।
लेता परिग्रह मनो बहु या जरा सा, क्यों ना करे फिर तुरन्त निगोद वासा॥

अन्वयार्थ - (**जहजायरूवसरिसो**) यथाजात रूप सदृश - नग्नमुद्रा के धारक मुनि (**तिलतुसमेत्तं**) तिलतुष मात्र भी परिग्रह (**हत्तेसु**) हाथों में (**ण गिहदि**) नहीं ग्रहण करते (**पुण**) और (**जइ**) यदि (**अप्पबहुयं**) थोड़ा बहुत (**लेइ**) ग्रहण करता है तो (**णिग्गोदं**) निगोद (**जाइ**) जाता है।

अर्थ - यथाजात रूप सदृश - नग्नमुद्रा के धारक मुनि तिलतुष मात्र भी परिग्रह हाथों में नहीं ग्रहण करते और यदि थोड़ा बहुत ग्रहण करते है तो निगोद जाते है।

भावार्थ - यथाजात तत्काल उत्पन्न हुये बालक को कहते हैं उसके समान जिनका रूप है वे सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके सदृश नग्न शरीर को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ साधु अपने हाथों में तिलतुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते। यदि कदाचित् अपने उदर पोषण की बुद्धि से थोड़ा बहुत भी परिग्रह रखते हैं तो उसके फलस्वरूप निगोद को प्राप्त होते हैं।

यहाँ संस्कृत टीकाकार ने लिखा है कि यह उत्सर्ग व्याख्यान सामान्य कथन प्रमाण रूप ही है किन्तु इन्द्रनन्दि आचार्य ने जो यह उल्लेख किया है कि-कहीं आचार्य काल की परिस्थिति के अनुसार गच्छ तथा पुस्तकों की वृद्धि के लिये उस द्रव्य को भी ग्रहण करते हैं जो बिना याचना के प्राप्त हुआ हो तथा अल्प हो।

यह अपवाद व्याख्यान है। इस अपवाद मार्ग का कथन करते हुए उन्होंने कहा है कि आचार्य उस अयाचित और अल्प द्रव्य को अपने हाथ से न छुये, श्रावक आदि के हाथ में ही रक्खें। अर्थात् उसके स्वामित्व के भागी न बनें।

गुणाधिक श्रमण की विनय का उपदेश

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणोत्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंत संसारी॥ १२३॥

प्रवचनसार ३-६६

पाले न एक गुण भी मन से सही से, तो भी कहे श्रमण हूँ कम हूँ किसी से।
औ मांगता विनय साधुगुणी जनों से,पाता अनन्तभव सो अघ के फलों से॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो श्रमण (**जदि**) यति (**होमि**) मैं हूँ (**त्ति**) ऐसे अभिमान से (**गुणदोधिगस्स**) गुणों से अधिक ऐसे श्रमण के पास से (**विणयं पडिच्छगो**) विनय करवाना चाहता है (**सो**) वह (**अणंत संसारी**) अनंत संसारी (**होदि**) होता है।

अर्थ - जो श्रमण यति मैं हूँ ऐसे अभिमान से गुणों से अधिक ऐसे श्रमण के पास से विनय करवाना चाहता है वह अनंत संसारी होता है।

भावार्थ - जो श्रमण स्वयं अधिक गुणों का धारक नहीं होकर भी ''मैं भी तो श्रमण हूँ'', इस प्रकार के अभिमान के वशीभूत होकर अधिक गुण वाले श्रमण से अपनी विनय की इच्छा रखता है, वह अनंत संसारी होता है।

जिस प्रकार घर में आग लगाने पर कुआँ खुदवाने से कोई लाभ नहीं होता उसी प्रकार वृद्धावस्था में धर्म का मार्ग अपनाने पर अपेक्षित लाभ नहीं होता है।

देह से परे आत्मा के अस्तित्त्व का ज्ञान, विज्ञान की पकड़ से परे है। इसका विवरण मात्र धर्म ग्रन्थों में ही मिलता है।

साधु का रास्ता तो मनन और चिन्तन का रास्ता है। उसकी यात्रा अपरिचित वस्तु से परिचय प्राप्त करने का उत्कृष्ट प्रयास है।

गुणहीन श्रमण से समाचार का निषेध

अधिकगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता॥ १२४॥

प्रवचनसार ३-६७

योगी बने तप करें गुरु हो गुणों में, तो भी उन्हें नुति करें लघु जो गुणों में।
मिथ्यात्व से सहित हो पथ भूल जाते,चारित्र से स्खलित हो प्रतिकूल जाते॥

अन्वयार्थ - (**जदि**) जो (**सामण्णे**) यतिपने में (**अधिकगुणा**) उत्कृष्ट गुण वाले महामुनि हैं वे (**गुणाधरेहिं**) गुणों से रहित हीन मुनियों के साथ (**किरियासु**) विनयादि क्रिया में (**वट्टंति**) प्रवर्तते हैं, तो (**ते**) वे उत्कृष्ट मुनि (**मिच्छुवजुत्ता**) मिथ्यात्व से युक्त (**पब्भट्ठचारित्ता**) चारित्र भ्रष्ट (**हवंति**) हो जाते हैं।

अर्थ - जो यतिपने में उत्कृष्ट गुण वाले महामुनि हैं वे गुणों से रहित हीन मुनियों के साथ विनयादि क्रिया में प्रवर्तते हैं, तो वे उत्कृष्ट मुनि मिथ्यात्व से युक्त चारित्र भ्रष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ - जो श्रमण, श्रामण्य में स्वयं अधिक गुणवाले होकर यदि गुणरहित श्रमण के साथ वन्दनादि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, तो वे मोह के कारण, नहीं करने योग्य क्रियाओं में संलग्न होने के कारण चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि यदि कोई श्रमण गुणरहित या अपने से हीन गुण वाले श्रमण के साथ वन्दनादि क्रियाओं में प्रवर्तता है, तो एक तरह से वह उसकी असमीचीन प्रवृत्ति की अनुमोदना ही करता है। इस तरह वह अपने प्रशस्त चारित्र में दोष लगाता हुआ चारित्र से भी स्खलित हो जाता है।

लक्ष्य बनाओ भार उतारने का और यह तभी हो सकता है जब याद रखोगे-तेरा सो एक, जो तेरा है सो वह एक आत्म तत्त्व है।

लौकिक संसर्ग त्याग का उपदेश

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि॥१२५॥

प्रवचनसार ३-६८

चारित्र में अधिक प्रौढ़ कषाय जेता, सिद्धान्त में कुशल हैं निज तत्त्ववेत्ता।
छोड़े न किन्तु यदि लौकिक संगति को, वे सन्तसंयत नहीं अब क्या गति हो?॥
गति दुर्गति हो॥

अन्वयार्थ - (**णिच्छिदसुत्तत्थपदो**) निश्चय कर लिये हैं सूत्रों के अर्थ और जीवादि पदार्थ जिसने (**समिदकसाओ**) कषायों का शमन किया है (**च**) और (**तवोधिगो अवि**) जो अधिक तपवान् है-ऐसा जीव भी (**जदि**) यदि (**लोगिगजणसंसग्गं**) लौकिकजनों के संसर्ग को (**ण चयदि**) नहीं छोड़ता (**संजदो ण हवदि**) तो वह संयत नहीं है अर्थात् असंयत हो जाता है।

अर्थ - निश्चय कर लिये हैं सूत्रों के अर्थ और जीवादि पदार्थ जिसने तथा कषायों का शमन किया है और जो अधिक तपवान् है-ऐसा जीव भी यदि लौकिकजनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता तो वह संयत नहीं है अर्थात् असंयत हो जाता है।

भावार्थ - जो भगवत्प्रणीत शब्दब्रह्म का जानने वाला है, आत्मतत्त्व को भी जानता है, बहुत अभ्यासकर निष्कंप उपयोगी है और तप की अधिकता से उत्कृष्ट संयमी भी है, इत्यादि अनेक गुणों कर युक्त है तो भी लौकिक मुनि की जो संगति नहीं छोड़े, तो वह संयमी नहीं हो सकता। जैसे आग के सम्बन्ध से उत्तम शीतल जल अवश्य गर्म विकार को धारण करता है, उसी तरह मुनि भी कुसंगति से अवश्य नाश को प्राप्त होता है। इसलिये कुसंगति त्यागने योग्य है।

दिगम्बरत्व ही एक ऐसा बाँध है जिसे लांघने का साहस परवादियों में नहीं हो सकता। ज्यों ही यह बाँध टूटेगा त्यों ही धर्म का निर्मल स्वरूप नष्ट हो जायेगा।

लौकिक श्रमण का स्वरूप

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतव संजुदो चावि॥ १२६॥

प्रवचनसार ३-६९

निर्ग्रन्थ हो नहिं जुड़ा निज-धर्म से है, मन्त्रादि में निरत जोतिष-कर्म में है।
ले बाह्य-संयम, तप ओ भले ही, सो साधु लौकिक रहा भव में भ्रमे ही।।

अन्वयार्थ - (**णिग्गंथो पव्वइदो**) निर्ग्रन्थ मुनिपद को धारण कर दीक्षित हुआ मुनि (**संजम तप संजुदो**) संयम तप से सहित होता हुआ भी (**जदि**) यदि (**सो**) वह भ्रष्टमुनि (**एहिगेहि**) इस लोक सम्बन्धी (**कम्मेहिं**) कर्मों सहित (**वट्टदि**) वर्तता हो तो (**लोगिगो त्ति भणिदो**) लौकिक कहा गया है।

अर्थ - निर्ग्रन्थ मुनिपद को धारण कर दीक्षित हुआ मुनि संयम तप से सहित होता हुआ भी यदि वह भ्रष्टमुनि इस लोक सम्बन्धी कर्मों सहित वर्तता हो तो लौकिक कहा गयाहै।

भावार्थ - जो श्रमण निर्ग्रन्थ लिङ्ग/दीक्षा में प्रव्रजित होकर भी ख्याति, पूजा तथा लाभ आदि के लिये इस लोक सम्बन्धी ज्योतिष, मंत्र, तंत्र तथा वैद्यक आदि कार्यों को करता है, वह द्रव्यरूप संयम और तप से युक्त होते हुए भी लौकिक श्रमण ही कहलाता है।

बाहरी चमक-दमक के कारण ही भीतरी आभा का परिचय नहीं हो पा रहा है। ध्यान रखिये वह आत्म आभा भौतिक साधनों की पकड़ से परे है। उसका मात्र संवेदन किया जा सकता है।

विश्व में बहुत सारे मार्ग परम्पराओं को बताने वाले साहित्यमात्र हैं किन्तु श्रमण संस्कृति में साहित्य के अनुरूप आदित्य चर्या भी है। इस चर्या की वजह से ही यह दिगम्बर परम्परा आज तक जीवित है। यह हम सभी के महान् पुण्य एवं सौभाग्य का विषय है।

उत्तम संगति का उपदेश

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं॥ १२७॥

प्रवचनसार ३-७०

चाहो अतः भव-पयोनिधि पार पाना, संपर्क में अब अवश्य सुधार लाना।
होवे बड़े अपन से सम या गुणों में, संगानुसार गुण दोष बढ़े व्रतों में॥

अन्वयार्थ - (**तम्हा**) इसलिये (**जदि**) यदि जो (**समणं**) श्रमण (**दुक्ख परिमोक्ख**) दुःख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह (**गुणादो समं**) समान गुणों वाले श्रमण के (**वा**) अथवा (**गुणेहिं अहियं**) अधिक गुणों वाले श्रमण के संग में (**णिच्चं**) सदा (**अधिवसदु**) निवास करे।

अर्थ - इसलिये यदि जो श्रमण दुःख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समान गुणों वाले श्रमण के अथवा अधिक गुणों वाले श्रमण के संग में सदा निवास करे।

भावार्थ - जो श्रमण दुःख से मुक्त होना चाहता हो तो वह निरन्तर ऐसे श्रमण के साथ रहे जो गुणों की अपेक्षा अपने से अधिक हो अथवा समान गुण वाला हो।

जैसे अग्नि के संयोग से शीतल गुण का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार लौकिक जनों के संसर्ग से संयम गुण का विनाश हो जाता है ऐसा जानकर मुनिराज समान गुण वाले अथवा अधिक गुण वाले मुनियों का आश्रय करते है जैसे ठंडे बर्तन में जल के शीतल गुण की रक्षा होती है उसी तरह समान गुण वालों के संसर्ग से गुणों की रक्षा होती है और जैसे उसी जल में कर्पूर, शक्कर आदि शीतल द्रव्यों के डाल देने पर शीतल गुण की वृद्धि होती है उसी तरह निश्चय व्यवहार रत्नत्रय गुणों से अधिक मुनियों के संसर्ग से गुणों में वृद्धि होती है ।

आज हम उस उत्कृष्ट अध्यात्म को मात्र शब्दों में देख रहे हैं, जीवन में नहीं।

श्रमणचर्या और उद्दिष्टादि आहार दोष

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं॥१२८॥
आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा॥ १२९॥

समयसार २९६, २९७

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे, जाते अजीव पर-पुद्गल के पुकारे।
साधु करे फिर उन्हें किस भाँति ज्ञानी? वे अन्य द्रव्य गुण हैं यह वीरवाणी॥
अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे, जाते अजीव जड़ पुद्गल के पुकारे।
हैं अन्य से रचित ये गुण देख लेता, ज्ञानी उन्हें अनुमती किस भांति देता?॥

अन्वयार्थ - (**आधाकम्मादीया**) अधः कर्म आदि (**णिच्चं**) नित्य ही (**पुग्गलदव्वस्स**) पुद्गल द्रव्य के (शुद्धात्मा से पृथग्भूत, आहार रूप) (**जो इमे दोसा**) जो ये दोष हैं (**हु**) निश्चय से (**णाणी**) ज्ञानी आत्मा (**कह कुव्वदि**) कैसे कर सकता है अर्थात् नहीं। (**परदव्वगुणा**) वे तो पुद्गल के गुण हैं।

एवं (**अण्णेण**) अन्य दूसरे गृहस्थ के द्वारा (**अणुमण्णदि**) अनुमोदना भी (**कह**) कैसे (**कीरमाणा**) कर सकता है अर्थात् कभी नहीं कर सकता (**आधाकम्मादीया**) अधःकर्म आदि (**पुद्गलदव्वस्स**) पुद्गलद्रव्य के (**जो इमे दोसा**) जो ये दोष हैं (**परस्स गुणा**) पर के गुण हैं।

अर्थ - अधः कर्म आदि नित्य ही पुद्गल द्रव्य के (शुद्धात्मा से पृथग्भूत, आहार रूप) जो ये दोष हैं निश्चय से ज्ञानी आत्मा कैसे कर सकता है अर्थात् नहीं। वे तो पुद्गल के गुण हैं।

एवं अन्य दूसरे गृहस्थ के द्वारा अनुमोदना भी कैसे कर सकता है अर्थात् कभी नहीं कर सकता अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्य के जो ये दोष हैं पर के गुण हैं।

भावार्थ - अधःकर्म आदि से उत्पन्न हुआ आहार पुद्गल द्रव्य का होता है, तथा निश्चयनय से यह जीव अचेतनरूप पुद्गल द्रव्य को कर (बना) नहीं

सकता है। अतः जब निश्चयनय से यह जीव अचेतनरूप पुद्गल द्रव्यमय आहार को न ही कर (बना) सकता है तथा न ही गृहस्थ आदिकों के द्वारा बनाये जाने वाले आहार की अनुमोदना कर सकता है, तब उस पुद्गलमय आहार को स्वयं बनाने अथवा अन्य किसी बनाने वाले की अनुमोदना से होने वाला आहार सम्बन्धी अधःकर्म दोष उस श्रमण को कैसे लग सकता है? अर्थात् नहीं लग सकता।

दिगम्बर मुनियों की चर्या ऐसी है जिसका मूल्य नहीं आंका जा सकता। वह अनमोल है। आज भी दिगम्बर संत उसका पालन कर रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने तो इस चर्या (मुद्रा) के लिये महान् से महानतम उपमायें दी हैं । जैसे कि यही जिनागम है यही तीर्थ है, यही सर्वस्व है। अतः इस चर्या का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिये।

अकेले दिगम्बरत्व और पिच्छी कमण्डल लेने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, जितना यह सत्य है उससे भी बड़ा सत्य यह है कि इसके बिना भी कभी मुक्ति नहीं हो सकती।

सिर्फ प्रासुक आहार ही नहीं अपितु प्रासुक जमीन की ओर भी श्रावकों का ध्यान जाना चाहिये तभी चर्या जीवित रह सकेगी।

दिगम्बरत्व धूप के समान है। उसका उपयोग चाहे जितना करें, मगर उसे बाँधने का प्रयास न करें, वह धूप है बाँधने से बँधेगी नहीं।

इस श्रमण चर्या को देखकर ही हमें यह अंदाज लगा सकते हैं कि तीर्थंकर आदिनाथ और भगवान् महावीर कैसे थे।

आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं॥ १३०॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं॥ १३१॥

समयसार २९८,२९९

औद्देशिकादि सब कर्म निरे-निरे हैं,चैतन्य से रहित हैं जड़ता धरे हैं।
हूँ ज्ञानवान जब में मुझ से कराया,कैसा गया वह नहीं कुछ जान पाया॥
औद्देशिकादिक सब कर्म निरेनिरे हैं, चैतन्य से रहित हैं जड़ता धरे हैं।
ज्ञानी विचार करते मुनिराज ऐसा, वो अन्य कर्म जड़कर्म मदीय कैसा॥

अन्वयार्थ - (**इमं**) यह (**आधाकम्मं**) अध:कर्म (**च**) और (**उद्देसियं**) औद्देशिक (**पुग्गलमयं दव्वं**) पुद्गलमय द्रव्य है (**जं**) जो (**णिच्चं**) सदा ही (**अचेदणं**) अचेतन (**वुत्तं**) कहा गया है (**तं**) वह (**मम करं**) मेरे द्वारा किया किया (**कह**) किस प्रकार (**होदि**) हो सकता है?

(**इमं**) यह (**आधाकम्मं**) अध:कर्म (**च**) और (**उद्देसियं**) औद्देशिक (**पुग्गलमयं दव्वं**) पुद्गलमय द्रव्य है (**जं**) जो (**णिच्चं**) नित्य ही (**अचेदणं**) अचेतन (**वुत्तं**) कहा गया (**तं**) उसको (**मम कारविदं**) मेरा किया हुआ (**कह**) कैसे हो सकता है।

अर्थ - यह अध:कर्म और औद्देशिक पुद्गलमय द्रव्य है जो सदा ही अचेतन कहा गया है वह मेरे द्वारा किया किया किस प्रकार हो सकता है?

यह अध:कर्म और औद्देशिक पुद्गलमय द्रव्य है जो नित्य ही अचेतन कहा गया उसको मेरा किया हुआ कैसे हो सकता है।

भावार्थ - आहारग्रहण के पूर्व उस पात्र के निमित्त से जो भी आहार आदि बनाया गया है, वह औद्देशिक आहार या उद्दिष्ट आहार कहा जाता है। लेकिन जब निश्चयनय से यह जीव अचेतन पुद्गल द्रव्यरूप आहार को ग्रहण नहीं कर सकता, तब किसी श्रमण को उसके निमित्त को लेकर बनाये गये या बनवाये गये आहार से सम्बन्धित औद्देशिक दोष कैसे लगेगा?

तात्पर्य यह है कि जब कोई साधु आहार चर्या के लिये निकलता है तो

वह अपने लिए ग्रहण करने योग्य आहार आदि को आगम में कही गई विधि के अनुसार ही ग्रहण करता है। वह श्रमण आहार के समय अथवा आहार के पूर्व या आहार के पश्चात् भी मन-वचन-काय तथा कृत-कारित और अनुमोदना के द्वारा गृहस्थ श्रावकों के द्वारा बनाये गये आहारादि के सम्बन्ध में कोई चर्चा आदि या विकल्प नहीं करते हैं। अत: साधु को उस श्रावक द्वारा किये गये आहार सम्बन्धी कोई भी दोष नहीं लगते। क्योंकि यदि इस जीव को दूसरे में होने वाले परिणामों से भी बंध होने लगे तो फिर कभी भी इस जीव को मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं हो सकेगी।

भारतीय मानस श्रद्धा भक्ति से भरा हुआ है। यही कारण है कि यहाँ के निवासियों ने मकानों के साथ-साथ पूजास्थलों मंदिरों का निर्माण भी किया है। भारत में ऐसा कोई भी गाँव नहीं जो मंदिर-मूर्तियों से विहीन हो।

तीर्थ हमारे धर्मक्षेत्र माने गये हैं। साधना के लिये जनपद शून्य, निराकुल निरापद स्थान हैं। हमारे पूर्वजों की पवित्र सांस्कृतिक धरोहर हैं। इनका संरक्षण और संवर्द्धन एक-एक घटक का कर्तव्य है।

जिस प्रकार नदी अपने अस्तित्व को खोकर ही समुद्र बनती है उसी प्रकार अपने क्षुद्र अस्तित्व को खोकर ही यह आत्मा परमात्मा बनती है।

संस्कार के बिना संसार में कोई भी आत्मा पतित से पावन नहीं बन सकती।

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो॥ १३२॥

प्रवचनसार ३-६०

संयुक्त शुद्ध-शुभ के उपयोग से है,औमुक्त भी अशुभ के उपयोग से है।
वे ही यहाँ नियम से जग तारते हैं,पूजें उन्हें, सुख मिले, अघ झारते हैं॥

अन्वयार्थ - (**असुभोवयोगरहिदा**) जो अशुभोपयोग से रहित हुए ऐसे (**सुद्धुवजुत्ता**) शुद्धोपयोगयुक्त (**वा**) अथवा (**सुहोवजुत्ता**) शुभोपयोग से युक्त होते हैं, वे श्रमण लोग (**णित्थारयंति लोगं**) लोगों को तार देते हैं और (**तेसु भत्तो**) उनके प्रति भक्तिवान जीव (**पसत्थं**) प्रशस्त पुण्य को (**लहदि**) प्राप्त करता है।

अर्थ - जो अशुभोपयोग से रहित हुए ऐसे शुद्धोपयोगयुक्त अथवा शुभोपयोग से युक्त होते हैं, वे श्रमण लोग लोगों को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिवान जीव प्रशस्त पुण्य को प्राप्त करता है।

भावार्थ - जो श्रमण अशुभोपयोग से रहित हैं और शुद्धोपयोग या शुभोपयोग से युक्त हैं, वे उत्तम मुनिजन भव्यजनों को संसार समुद्र से तारते हैं। उनकी भक्ति करने वाले मनुष्य प्रशस्त फलरूप स्वर्ग को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

जैसे दुग्ध में से निकला हुआ शुद्ध तत्त्व घृत पुनः दुग्ध रूप परिवर्तित नहीं होता है ठीक इसी प्रकार मुक्त होने के बाद यह आत्मा लौटकर पुनः संसार में नहीं आती।

भगवान् का जन्म नहीं होता किन्तु जो भगवान् बनने वाले होते हैं उनका जन्म होता है।

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्जदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो॥ १३३॥
इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परम णिव्वाणं॥ १३४॥

पंचास्तिकाय १०४, बारसाणुबेक्खा ११

शास्त्रार्थ को समझ संयम धार लेता,संमोह रोष रति को फिर मार देता।
है पापपुण्य पर को क्रमशः हटाता, यूं भव्यजीव भवसागर पार पाता।।
जो कुन्दकुन्द मुनि नायक ने निभाया, है निश्चयादि व्यवहार हमें सुनाया।
भाता विशुद्ध मन से इसको वही है,निर्वाण प्राप्त करता शिव की मही है।।

अन्वयार्थ - जो पुरुष (**एतदट्ठं**) इस ग्रंथ के रहस्य शुद्धात्म पदार्थ को (**मुणिऊण**) जानकर (**तदणुगमणुज्जदो**) उस ही आत्मपदार्थ में प्रवीण होने को उद्यमी (**हवदि**) होता है (**जीवो**) वह भेद-विज्ञानी जीव (**णिहदमोहो**) नष्ट किया है दर्शनमोह जिसने (**पसमियरागद्दोसो**) शांत होकर विला गये हैं रागद्वेष जिसमें से (**हदपरावरो**) नष्ट किया है पूर्वापर बंध जिसने, ऐसा होकर मोक्षपद का अनुभवी होता है।

(**इदि**) इस प्रकार (**कुन्दकुन्द मुणिणाहे**) कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने (**णिच्छय ववहारं**) निश्चय और व्यवहार नयों से (**जं भणियं**) जो कहा है (**सुद्धमणो**) शुद्धमन से उसे (**जो भावइ**) जो भाता है (**सो**) वह (**परम णिव्वाणं**) परम निर्वाण को (**पावइ**) प्राप्त करता है।

अर्थ - जो पुरुष इस ग्रन्थ के रहस्यभूत शुद्धात्मपदार्थ को जानकर उसकी प्राप्ति के लिए उद्यत होता है, वह दर्शनमोह को नष्ट करके रागद्वेष को प्रशमित (नष्ट) करते हुए पाप-पुण्य से रहित होकर मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराज ने निश्चय और व्यवहार का आलम्बन लेकर जो कथन किया है, उसकी जो शुद्ध हृदय होकर भावना करता है, वह परम निर्वाण को प्राप्त होता है।

॥ चतुर्थ श्रामण्य अधिकार समाप्त॥

परिशिष्ट -१

प्रयुक्त संदर्भ ग्रन्थ

कृति - समयसार कृतिकार - आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
संस्कृत टीका - आचार्य जयसेन स्वामी । **हिन्दी टीका** - आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज
प्रकाशक - आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र ब्यावर (राज.)संस्करण-चतुर्थ,१९९६

कृति - प्रवचनसार कृतिकार - आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
संस्कृत टीका - तत्त्व प्रदीपिका आ. जयसेन स्वामी। तात्पर्यवृत्ति आ. अमृतचन्द स्वामी
सम्पादक - ए.एन.उपाध्याये
प्रकाशक - श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, राजचन्द्र आश्रम, आगास, संस्करण-चतुर्थ,१९८४

कृति - नियमसार कृतिकार - आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
संस्कृत टीका - आ. पद्मप्रभमलधारी स्वामी । स्याद्वाद चन्द्रिका - आर्यिका ज्ञानमति जी
सम्पादक - ब्र. रवीन्द्र जी
प्रकाशक - दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर, संस्करण-प्रथम,१९८५

कृति - पंचास्तिकाय कृतिकार - आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
संस्कृत टीका - तत्त्व प्रदीपिका आ. जयसेन स्वामी। तात्पर्यवृत्ति आ. अमृतचन्द स्वामी
हिन्दी भाषानुवाद - पन्नालाल बाकलीवाल
प्रकाशक - श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल,राजचन्द्र आश्रम, आगास,संस्करण-चतुर्थ ,१९८६

कृति - अष्टपाहुड कृतिकार - आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
संस्कृत टीका - श्री श्रुतसागर सूरि
हिन्दी अनुवाद - पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य
प्रकाशक - श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्, संस्करण-द्वितीय,१९९५

कृति - बारसाणुवेक्खा कृतिकार - आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
दोहा अनुवाद - मुनि समता सागर जी
प्रकाशक - प्राञ्जल प्रकाशन,सागर, संस्करण -प्रथम,२००१

आचार्य कुन्दकुन्द : एक परिचय

अवतरण एवं प्रभाव :- आचार्य कुन्दकुन्द भगवान आज से लगभग 2000 वर्ष पूर्व इस भारतभूमि पर अध्यात्मजगत के सर्वोपरि आचार्य हुए हैं। आपके महान आध्यात्मिक चिंतन से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित हुई है और उसने एक अद्भुत मोड़ लिया, यही कारण है कि आपके परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने को आपकी परम्परा का आचार्य मानकर अपना गौरव माना है।

जन्म स्थान एवं मुनि दीक्षा : आपका जन्म स्थान अनन्तपुर जिले आन्ध्र प्रदेश के गुण्टुकल स्टेशन से लगभग चार मील दूर कौडकुन्दी कुन्दकुन्द पुरम् अपर नाम कुरुमरई माना जाता है। जिनशासन की प्रभावना एवं आध्यात्मिक क्रान्ति की जन्मघूटी पीकर, उसे साकार करने के लिए 11 वर्ष की आयु में ही मुनिव्रत अंगीकार किये।

अनेक नामः आप कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य एवं पद्मनंदि नाम से विख्यात हैं।

कृतित्व : आपके समूचे इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि आपने पंच परमागम एवं 84 पाहुडों की रचना की। आपके सभी ग्रन्थ पाहुड कहे जाते हैं, पाहुड आर्थत् प्राभृत जिसका अर्थ "भेंट"। परमात्मा के आराधक प्रमुख पुरुष के लिये निर्दोष परमात्मा का दर्शन करने के लिये आपके ग्रन्थ प्राभृत "भेंट" स्वरूप हैं। वर्तमान में आपकी केवल निम्नलिखित कृतियाँ ही उपलब्ध हैं।

1. पवयणसार
2. समयपाहुड
3. बारसाणुवेक्खा
4. पंचत्थिकाय संगहो
5. णियमसार
6. भत्ति संगहो
7. अट्ठपाहुड (दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तापाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड तथा लिङ्गपाहुड)

जन्म	- वीर निर्माण संवत् 514	दीक्षा	- वीर निर्वाण संवत् 524
आचार्य पद	- वीर निर्वाण संवत् 558	समाधि	- वीर निर्वाण संवत् 601

महाकवि ज्ञानसागर छात्रावास, सांगानेर

प्रकाशक

आचार्य ज्ञानसागर ग्रन्थमाला

श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान

वीरोदय नगर, नसियां रोड़, सांगानेर, जयपुर